

## Chapter पाँच

### हिरण्यकशिपु का साधु पुत्र प्रह्लाद महाराज

प्रह्लाद महाराज अपने गुरु के आदेशों का पालन नहीं कर पाते थे, क्योंकि वे सदैव भगवान् विष्णु की पूजा में लगे रहते थे। जैसाकि इस अध्याय में वर्णन हुआ है, हिरण्यकशिपु ने प्रह्लाद महाराज को साँप से डँसा कर तथा हाथी के पाँव के नीचे डालकर मार डालने का यत्न किया, किन्तु फिर भी वह असफल ही रहा।

हिरण्यकशिपु के गुरु शुक्राचार्य के दो पुत्र थे जिनके नाम षण्ड तथा अमर्क थे जिन्हें प्रह्लाद महाराज को पढ़ाने का भार सौंपा गया था। यद्यपि अध्यापक बालक प्रह्लाद को राजनीति, अर्थशास्त्र तथा अन्य सांसारिक विषयों की शिक्षा देने का प्रयास करते, किन्तु बालक उनके उपदेशों पर कोई

ध्यान नहीं देता था। उल्टे वह शुद्ध भक्त बना रहा। प्रह्लाद महाराज को कभी भी मित्रों तथा शत्रुओं में भेद-भाव करना अच्छा नहीं लगता था। आध्यात्मिक प्रवृत्ति के कारण वह सबों के प्रति समान भाव रखता।

एक बार हिरण्यकशिपु ने अपने पुत्र से पूछा कि उसने अपने अध्यापकों से कौन सी सर्वश्रेष्ठ बात सीखी है। प्रह्लाद महाराज ने उत्तर दिया कि जो मनुष्य द्वन्द्वों में फँसा रहता है और सोचता है कि “यह मेरा है और यह मेरे शत्रु का है।” उसे चाहिए कि वह अपना गृहस्थ जीवन त्याग कर भगवान् की पूजा करने के लिए जंगल चला जाये।

जब हिरण्यकशिपु ने अपने पुत्र से इस प्रकार की भक्ति की बातें सुनी तो उसने निश्चय किया कि हो न हो पाठशाला में उसके किसी मित्र ने इस छोटे बच्चे को इस प्रकार दूषित कर रखा है। अतएव उसने अध्यापकों को आदेश दिया कि वे बालक का ध्यान रखें जिससे वह कृष्णभावनाभावित भक्त बन जाये। किन्तु जब अध्यापकों ने प्रह्लाद महाराज से पूछा कि वह उनकी शिक्षाओं के विरुद्ध क्यों कार्य करता है, तो उसने अध्यापकों को शिक्षा दी कि स्वामित्व की प्रवृत्ति मिथ्या है, अतएव वह भगवान् विष्णु का अनन्य भक्त बनने का प्रयास कर रहा है। इस उत्तर से अध्यापक बहुत अप्रसन्न हुए और उन्होंने उस बालक को तरह-तरह से डराया धमकाया। उन्होंने अपनी सामर्थ्य भर उसे शिक्षा दी और तब उसे उसके पिता के समक्ष ले आये।

हिरण्यकशिपु ने अपने पुत्र प्रह्लाद को स्नेहपूर्वक गोद में उठा लिया और फिर उससे पूछा कि तुमने अपने अध्यापकों से कौन सी सर्वश्रेष्ठ बात सीखी है। सदैव की भाँति प्रह्लाद महाराज ने भक्ति की नवों विधियों—यथा श्रवण, कीर्तन इत्यादि की प्रशंसा करनी प्रारम्भ की। इस पर असुरराज हिरण्यकशिपु अत्यन्त क्रुद्ध हुआ और षण्ड तथा अमर्क दोनों अध्यापकों को त्रुटिपूर्ण प्रशिक्षण के लिए प्रताड़ित करने लगा। तब तथाकथित अध्यापकों ने राजा को बताया कि प्रह्लाद स्वतः भक्त होने के कारण उनके उपदेशों पर ध्यान नहीं देता। जब उन्होंने अपने आपको निर्दोष सिद्ध कर दिया तो हिरण्यकशिपु ने प्रह्लाद से पूछा कि तुमने *विष्णु भक्ति* कहाँ से सीखी? प्रह्लाद ने उत्तर दिया कि जो लोग गृहस्थ जीवन से बँधे हैं, वे न तो व्यक्तिगत रूप से न ही सामूहिक रूप से कृष्णभावनामृत का विकास कर पाते हैं। प्रत्युत वे इस संसार में बारम्बार जन्म लेते और मरते हैं और चर्वितचर्वण करते हैं। प्रह्लाद ने बताया कि

प्रत्येक मनुष्य का धर्म है कि वह शुद्ध भक्त की शरण ग्रहण करे और इस तरह कृष्णभावनामृत समझने का पात्र बने।

इस उत्तर से हिरण्यकशिपु क्रुद्ध हो गया और उसने प्रह्लाद को अपनी गोद से फेंक दिया। चूँकि उस विष्णु का प्रह्लाद भक्त बन गया था जिसने उसके चाचा हिरण्याक्ष का वध किया था, अतएव वह विश्वासघाती था। अतः हिरण्यकशिपु ने अपने सहायकों को आदेश दिया कि उसको मार डालें। उन्होंने प्रह्लाद पर तीक्ष्ण हथियारों से प्रहार किया, उसे हाथी के पाँवों के नीचे फेंका, उसे नारकीय यातनाएँ दीं, उसे पर्वत के ऊपर से नीचे गिराया और हजारों यत्नों से उसे मारने की कोशिशें की, किन्तु वे असफल रहे। अतएव हिरण्यकशिपु अपने पुत्र प्रह्लाद से अत्यधिक भयभीत हो उठा। उसने उसे बन्दी बना लिया। हिरण्यकशिपु के गुरु शुक्राचार्य के पुत्र प्रह्लाद को अपने ढंग से पढ़ाते, किन्तु वह उनके उपदेशों को नहीं मानता था। जब अध्यापकगण कक्षा में न होते तो वह पाठशाला में कृष्णभावनामृत का उपदेश देता और उसके उपदेशों से उसके सारे सहपाठी, जो असुरों के पुत्र थे, उसी की तरह भक्त बन गये।

श्रीनारद उवाच

पौरोहित्याय भगवान्वृतः काव्यः किलासुरैः ।

षण्डामकौ सुतौ तस्य दैत्यराजगृहान्तिके ॥ १ ॥

शब्दार्थ

श्री-नारदः उवाच—महान् सन्त नारद ने कहा; पौरोहित्याय—पुरोहित कर्म के लिए; भगवान्—अत्यन्त शक्तिमान्; वृतः—चुना गया; काव्यः—शुक्राचार्य; किल—निस्सन्देह; असुरैः—असुरों के द्वारा; षण्ड-अमकौ—षण्ड तथा अमर्क; सुतौ—दो पुत्र; तस्य—उसके; दैत्य-राज—दैत्यों का राजा, हिरण्यकशिपु; गृह-अन्तिके—घर के पास।

महामुनि नारद ने कहा : हिरण्यकशिपु आदि असुरों ने शुक्राचार्य को अनुष्ठान सम्पन्न कराने के लिए पुरोहित के रूप में चुना। शुक्राचार्य के दो पुत्र षण्ड तथा अमर्क हिरण्यकशिपु के महल के ही पास रहते थे।

तात्पर्य : प्रह्लाद के प्रारम्भिक जीवन की कथा इस प्रकार सुनाई जाती है। शुक्राचार्य नास्तिकों के, विशेष रूप से हिरण्यकशिपु के, पुरोहित बने और इस प्रकार उनके दो पुत्र षण्ड तथा अमर्क हिरण्यकशिपु के महल के पास रहने लगे। शुक्राचार्य को हिरण्यकशिपु का पुरोहित नहीं बनना चाहिए था, क्योंकि स्वयं हिरण्यकशिपु तथा उसके सारे अनुयायी नास्तिक थे। ब्राह्मण को ऐसे व्यक्ति का पुरोहित बनना चाहिए जो आध्यात्मिक संस्कृति की उन्नति में रुचि रखे। किन्तु शुक्राचार्य नाम ही ऐसे

व्यक्ति का सूचक है, जो अपने पुत्रों तथा वंशजों को लाभ दिलाने में ही रुचि रखता हो, भले ही धन कैसे ही आए। असली ब्राह्मण को नास्तिक लोगों का पुरोहित नहीं बनना चाहिए।

तौ राज्ञा प्रापितं बालं प्रह्लादं नयकोविदम् ।

पाठयामासतुः पाठ्यान्त्यांश्चासुरबालकान् ॥ २ ॥

#### शब्दार्थ

तौ—वे दोनों ( षण्ड और अर्मक ); राज्ञा—राजा द्वारा; प्रापितम्—भेजे गये; बालम्—बालक को; प्रह्लादम्—प्रह्लाद नामक; नय-कोविदम्—नैतिक सिद्धान्तों से परिचित; पाठयाम् आसतुः—पढ़ाया करते; पाठ्यान्—भौतिक ज्ञान की पुस्तकें; अन्यान्—अन्य; च—भी; असुर-बालकान्—असुरों के बालकों को।

प्रह्लाद महाराज पहले से ही भक्ति में निपुण थे, किन्तु जब उनके पिता ने उन्हें पढ़ाने के लिए शुक्राचार्य के दोनों पुत्रों के पास भेजा तो उन दोनों ने उन्हें तथा अन्य असुरपुत्रों को अपनी पाठशाला में भर्ती कर लिया।

यत्तत्र गुरुणा प्रोक्तं शुश्रुवेऽनुपपाठ च ।

न साधु मनसा मेने स्वपरासद्ग्रहाश्रयम् ॥ ३ ॥

#### शब्दार्थ

यत्—जो; तत्र—वहाँ ( पाठशाला में ); गुरुणा—अध्यापकों द्वारा; प्रोक्तम्—बताया गया; शुश्रुवे—सुना; अनुपपाठ—सुनाया; च—तथा; न—नहीं; साधु—अच्छे; मनसा—मन से; मेने—विचार किया; स्व—निजी; पर—दूसरों का; असत्-ग्रह—बुरे भाव से; आश्रयम्—पुष्ट किया गया, समर्थित।

प्रह्लाद अध्यापकों द्वारा पढ़ाये गये राजनीति तथा अर्थशास्त्र के पाठों को सुनते और सुनाते अवश्य थे, किन्तु वे यह समझते थे कि राजनीति में किसी को मित्र माना जाता है और किसी को शत्रु। अतएव यह विषय उन्हें पसन्द न था।

तात्पर्य : राजनीति में एक वर्ग के मनुष्यों को शत्रु और दूसरे वर्ग वालों को मित्र माना जाता है। राजनीति की सारी बातें इसी दर्शन पर आधारित हैं और सम्पूर्ण विश्व विशेषतः आजकल इसी में उलझा हुआ है। जनता को मित्र देशों तथा मित्र वर्गों या शत्रु देशों तथा शत्रु वर्गों से ही मतलब रहता है, किन्तु जैसाकि *भगवद्गीता* में कहा गया है, विद्वान व्यक्ति कभी भी शत्रुओं तथा मित्रों में भेद-भाव नहीं बरतता। विशेषतया भक्तगण मित्र या शत्रु नहीं बनाते। भक्त तो यह देखता है कि प्रत्येक जीव कृष्ण का अंश है ( *ममैवांशो जीवभूतः* )। अतएव भक्त शत्रुओं तथा मित्रों को कृष्णभावनामृत की शिक्षा देने का प्रयत्न करके दोनों के साथ समानता का व्यवहार करता है। निस्सन्देह, नास्तिक लोग शुद्ध भक्तों के

उपदेशों का पालन नहीं करते, उल्टे वे भक्त को अपना शत्रु मानते हैं। किन्तु भक्त न तो कभी मित्रता करता है न शत्रुता। यद्यपि प्रह्लाद महाराज को षण्ड तथा अमर्क के उपदेश सुनने पड़ते थे, किन्तु उन्हें मित्रों तथा शत्रुओं की यह विचार-धारा जो राजनीति का मूल आधार है, पसन्द न थी। वे इस विचार-धारा में रुचि नहीं रखते थे।

एकदासुरराट्पुत्रमङ्गमारोप्य पाण्डव ।

पप्रच्छ कथ्यतां वत्स मन्यते साधु यद्भवान् ॥ ४ ॥

#### शब्दार्थ

एकदा—एक बार; असुर-राट्—असुरों के सम्राट् ने; पुत्रम्—अपने पुत्र को; अङ्गम्—गोद में; आरोप्य—लेकर; पाण्डव—हे महाराज युधिष्ठिर; पप्रच्छ—पूछा; कथ्यताम्—बतलाओ; वत्स—मेरे प्यारे पुत्र; मन्यते—मानते हो; साधु—श्रेष्ठतम; यत्—जिसे; भवान्—तुम।

हे राजा युधिष्ठिर, एक बार असुरराज हिरण्यकशिपु ने अपने पुत्र प्रह्लाद को अपनी गोद में लेकर बड़े ही दुलार से पूछा : हे पुत्र, मुझे यह बतलाओ कि तुमने अपने अध्यापकों से जितने विषय पढ़े हैं उनमें से सर्वश्रेष्ठ कौन सा है।

तात्पर्य : हिरण्यकशिपु ने अपने कुमार बालक से ऐसी बात नहीं पूछी जिसका उत्तर दे पाना उसके लिए कठिन होता, अपितु उसने बालक को यह स्पष्ट बतलाने का अवसर दिया कि उसे सबसे अच्छा क्या लगता है। निस्सन्देह, प्रह्लाद महाराज परम भक्त होने के कारण सब कुछ जानते थे, अतएव वे बतला सकते थे कि जीवन का सर्वश्रेष्ठ अंश क्या है। वेदों में कहा गया है—*यस्मिन् विज्ञाते सर्वमेवं विज्ञातं भवति*—यदि कोई ईश्वर को ठीक से समझता है, तो वह किसी भी विषय को अच्छी तरह से समझ सकता है। कभी-कभी हमें बड़े-बड़े विज्ञानियों तथा दार्शनिकों को ललकारना पड़ता है, किन्तु कृष्ण की कृपा से हम विजयी होते हैं। एक तरह से देखा जाये तो सामान्य व्यक्ति के लिए यह असम्भव है कि वह असली ज्ञान के विषय में विज्ञानियों तथा दार्शनिकों को चुनौती दे पाये, किन्तु एक भक्त उन्हें ललकार सकता है, क्योंकि कृष्ण-कृपा से भक्त को प्रत्येक वस्तु का सर्वोत्कृष्ट ज्ञान होता है। जैसाकि *भगवद्गीता* (१०.११) में पुष्टि की गई है—

*तेषामेवानुकम्पार्थमहमज्ञानजं तमः ।*

*नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता ॥*

कृष्ण प्रत्येक व्यक्ति के हृदय में परमात्मा रूप में स्थित होकर भक्त के हृदय के अज्ञान को दूर

करते हैं। विशेष कृपा करके वे भक्त के समक्ष प्रकाश का दीपक दिखाकर उसे सारे ज्ञान से प्रकाशित करते हैं। अतएव प्रह्लाद महाराज श्रेष्ठ ज्ञान से अवगत थे और जब पिता ने पूछा तो उन्होंने उसे वह ज्ञान प्रदान किया। प्रह्लाद महाराज अपने बड़े-चढ़े कृष्णभावनामृत के कारण कठिन से कठिन समस्या को हल करने में समर्थ थे। अतएव उन्होंने इस प्रकार उत्तर दिया।

श्रीप्रह्लाद उवाच  
तत्साधु मन्येऽसुरवर्यं देहिनां  
सदा समुद्विग्नधियामसद्ग्रहात् ।  
हित्वात्मपातं गृहमन्धकूपं  
वनं गतो यद्धरिमाश्रयेत ॥ ५ ॥

### शब्दार्थ

श्री-प्रह्लादः उवाच— प्रह्लाद महाराज ने कहा; तत्—वह; साधु—अत्यन्त उत्तम अथवा जीवन का श्रेष्ठ अंश; मन्ये—मानता हूँ; असुर-वर्य—हे असुरों के राजा; देहिनाम्—शरीरधारियों का; सदा—सदैव; समुद्विग्न—चिन्ताओं से पूर्ण; धियाम्—जिसकी बुद्धि; असत्-ग्रहात्—क्षणिक शरीर या शारीरिक सम्बन्धों को असली मानने के कारण ( यह सोचते हुए कि मैं यह शरीर हूँ और इस शरीर से सम्बन्धित प्रत्येक वस्तु मेरी है ); हित्वा—त्याग कर; आत्म-पातम्—स्थान जहाँ जाकर आत्म-साक्षात्कार रुक जाता है; गृहम्—देहात्मबुद्धि या गृहस्थ जीवन; अन्ध-कूपम्—जो मात्र अंधा कुआँ है ( जहाँ जल नहीं होता किन्तु फिर भी लोग जल की तलाश करते हैं ); वनम्—जंगल में; गतः—जाकर; यत्—जो; हरिम्—भगवान् को; आश्रयेत—शरण लेता है।

प्रह्लाद महाराज ने उत्तर दिया: हे असुरश्रेष्ठ दैत्यराज, जहाँ तक मैंने अपने गुरु से सीखा है, ऐसा कोई व्यक्ति जिसने क्षणिक देह तथा क्षणिक गृहस्थ जीवन स्वीकार किया है, वह निश्चय ही चिन्ताग्रस्त रहता है, क्योंकि वह ऐसे अंधे कुएँ में गिर जाता है जहाँ जल नहीं रहता, केवल कष्ट ही कष्ट मिलते हैं। मनुष्य को चाहिए कि इस स्थिति को त्याग कर वन में चला जाये। स्पष्टार्थ यह है कि मनुष्य को चाहिए कि वह वृन्दावन जाये जहाँ केवल कृष्णभावनामृत व्याप्त है और इस तरह वह भगवान् की शरण ग्रहण करे।

तात्पर्य : हिरण्यकशिपु ने सोचा था कि प्रह्लाद अभी छोटा सा अनुभवहीन बालक मात्र है अतएव वह कुछ ऐसा उत्तर देगा जो मन को भाने वाला होगा, व्यावहारिक नहीं होगा। किन्तु प्रह्लाद महाराज ने उच्च भक्त होने के कारण शिक्षा के सारे गुण प्राप्त कर लिए थे।

यस्यास्ति भक्तिर्भगवत्यकिञ्चना

सर्वैर्गुणैस्तत्र समासते सुराः ।

हरावभक्तस्य कुतो महद्गुणा

*मनोरथेनासति धावतो बहिः ॥*

“जिसकी कृष्ण में अविचल भक्तिमयी श्रद्धा होती है, वह निरन्तर कृष्ण तथा देवताओं के सारे सद्गुण प्रकट करता रहता है। किन्तु जिसमें भगवान् की भक्ति नहीं होती उसमें सद्गुण नहीं पाये जाते, क्योंकि वह मानसिक कल्पनाओं के द्वारा भौतिक जगत में व्यस्त रहता है, जो भगवान् का बाह्यस्वरूप है।” ( *भागवत* ५.१८.१२ ) तथाकथित शिक्षित दार्शनिक तथा विज्ञानी जो बौद्धिक स्तर को प्राप्त होते हैं, *सत्* अर्थात् शाश्वत तथा *असत्* अर्थात् क्षणिक में अन्तर नहीं कर पाते। वैदिक आदेश है *असतो मा ज्योतिर्गम*—प्रत्येक व्यक्ति को चाहिए कि नश्वर स्तर को त्यागकर शाश्वत स्तर को प्राप्त करे। आत्मा शाश्वत है और शाश्वत आत्मा-विषयक कथाएँ वास्तविक ज्ञान हैं। अन्यत्र कहा गया है—*अपश्यताम् आत्मतत्त्वं गृहेषु गृहमेधिनाम्*—जो देहात्मबुद्धि से जुड़े रहते हैं और जो भौतिक इन्द्रियसुख के स्तर पर गृहस्थ के रूप में जीवन से चिपके रहते हैं, वे शाश्वत आत्मा के कल्याण को नहीं देख सकते। प्रह्लाद महाराज ने इसकी पुष्टि यह कहकर की कि जो व्यक्ति जीवन में सफलता की आकांक्षा करता है उसे सही स्रोत से तुरन्त यह समझ लेना चाहिए कि उसका स्वार्थ किसमें है और आध्यात्मिक चेतना में वह अपने जीवन को किस प्रकार ढाले। मनुष्य को चाहिए कि वह अपने को कृष्ण का अंश समझे और निश्चित आध्यात्मिक सफलता के लिए उनके चरणकमलों में पूर्णतया समर्पित हो ले। इस भौतिक जगत में प्रत्येक व्यक्ति देहात्मबुद्धि के कारण जन्म-जन्मांतर कठिन जीवन-संघर्ष करता रहता है। अतएव प्रह्लाद महाराज ने संस्तुति की है कि इस बारम्बार जन्म-मृत्यु की भौतिक दशा को रोकने के लिए मनुष्य को वन में चला जाना चाहिए।

*वर्णाश्रम* प्रणाली में मनुष्य पहले ब्रह्मचारी बनता है, फिर गृहस्थ, तब वानप्रस्थ और अन्त में संन्यासी। वन जाने का अर्थ है वानप्रस्थ जीवन स्वीकार करना जो गृहस्थ जीवन तथा संन्यास के बीच का जीवन है। जैसाकि *विष्णु-पुराण* ( ३.८.९ ) में पुष्टि की गई है—*वर्णाश्रमाचारवता पुरुषेण परः पुमान् विष्णुराराध्यते*—वर्ण तथा आश्रम की प्रथा को स्वीकार करके मनुष्य अपने को भगवान् विष्णु की पूजा करने के स्तर तक बड़ी आसानी से उठा सकता है। अन्यथा यदि वह देहात्मबुद्धि में रहता जाता है, तो वह इसी संसार में सड़ता रहता है और उसका जीवन व्यर्थ हो जाता है। समाज में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र श्रेणियाँ होनी चाहिए और आध्यात्मिक उन्नति के लिए मनुष्य को क्रमशः ब्रह्मचारी,

गृहस्थ, वानप्रस्थ तथा संन्यासी बनना चाहिए। प्रह्लाद महाराज ने संस्तुति की कि उनके पिता को वानप्रस्थ जीवन स्वीकार कर लेना चाहिए क्योंकि देहात्मबुद्धि के कारण वे और अधिक आसुरी मनोवृत्ति वाले हो रहे थे। प्रह्लाद महाराज ने अपने पिता से कहा कि उनके लिए वानप्रस्थ जीवन स्वीकार करना श्रेयस्कर होगा, न कि गृहस्थ के रूप में गृहम् अन्धकूपम् में गहरे गिरते जाना। अतएव हम अपने कृष्णभावनामृत आन्दोलन में विश्व के समस्त पुरुषों को वृन्दावन आने के लिए तथा यहाँ पर संन्यास जीवन बिताने और कृष्णभावनामृत में उन्नति करने के लिए आमंत्रित करते हैं।

श्रीनारद उवाच

श्रुत्वा पुत्रगिरो दैत्यः परपक्षसमाहिताः ।

जहास बुद्धिर्बालानां भिद्यते परबुद्धिभिः ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

श्री-नारदः उवाच—नारद मुनि ने कहा; श्रुत्वा—सुनकर; पुत्र-गिरः—अपने पुत्र की उपदेशमयी वाणी; दैत्यः—हिरण्यकशिपु; पर-पक्ष—शत्रु की ओर; समाहिताः—श्रद्धा युक्त; जहास—हँसा; बुद्धिः—बुद्धि; बालानाम्—छोटे बालकों की; भिद्यते—प्रदूषित होती है; पर-बुद्धिभिः—शत्रु पक्ष के सिखलाने से।

नारद मुनि ने आगे कहा : जब प्रह्लाद महाराज ने भक्तिमय आत्म-साक्षात्कार के विषय में बतलाया और इस तरह अपने पिता के शत्रु-पक्ष के प्रति अपनी स्वामि-भक्ति दिखलाई तो असुरराज हिरण्यकशिपु ने प्रह्लाद की बातें सुनकर हँसते हुए कहा—“शत्रु की वाणी द्वारा बाल-बुद्धि इसी तरह बिगाड़ी जाती है।”

तात्पर्य : हिरण्यकशिपु असुर होने के कारण विष्णु तथा उनके भक्तों को अपना शत्रु मानता था। इसलिए यहाँ पर परपक्ष (शत्रु की ओर) शब्द व्यवहृत हुआ है। हिरण्यकशिपु ने कभी भी विष्णु या कृष्ण की बातें नहीं मानीं। प्रत्युत वह किसी भी वैष्णव की बुद्धि से क्रुद्ध हो जाता था। भगवान् विष्णु या कृष्ण कहते हैं—*सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं ब्रज*—अन्य सारे कर्तव्यों को त्याग कर मेरी शरण में आओ। किन्तु हिरण्यकशिपु जैसे असुरों ने इससे कभी सहमति नहीं दिखलाई। अतएव कृष्ण कहते हैं—

न मां दुष्कृतिनो मूढाः प्रपद्यन्ते नराधमाः ।

माययापहतज्ञाना आसुरं भावमाश्रिताः ॥

“जो शैतान नितान्त मूर्ख हैं, जो मनुष्यों में अधम हैं, जिनकी बुद्धि मोह द्वारा नष्ट हो चुकी है और



जो असुर भाव में हिस्सा बँटाते हैं, वे मेरी शरण में नहीं आते'' ( भगवद्गीता ७.१५)। असुरभाव हिरण्यकशिपु का प्रतिनिधित्व करता है। ऐसे लोग मूढ़ तथा नराधम होने के कारण कभी भी विष्णु को ब्रह्म रूप में स्वीकार नहीं करते और न उनकी शरण ग्रहण करते हैं। स्वाभाविक था कि हिरण्यकशिपु अपने पुत्र प्रह्लाद पर अत्यधिक क्रुद्ध होता, क्योंकि वह शत्रुपक्ष द्वारा प्रभावित हो रहा था। अतएव उसने आदेश दिया था कि उसके पुत्र के निवास स्थान में नारद जैसे साधु पुरुषों को प्रविष्ट न होने दिया जाये, अन्यथा वैष्णव उपदेशों से प्रह्लाद अधिक बिगड़ जाएगा।

सम्यग्विधार्यतां बालो गुरुगेहे द्विजातिभिः ।

विष्णुपक्षैः प्रतिच्छन्नैर्न भिद्येतास्य धीर्यथा ॥ ७ ॥

### शब्दार्थ

सम्यक्—पूर्णतया; विधार्यताम्—उसकी सुरक्षा की जाये; बालः—यह कम आयु का; गुरु-गेहे—गुरुकुल में, जहाँ बच्चों को गुरु द्वारा पढ़ाये जाने के लिए भेज दिया जाता है; द्वि-जातिभिः—ब्राह्मणों द्वारा; विष्णु-पक्षैः—विष्णु की ओर के; प्रतिच्छन्नैः—छद्म वेश में रहने वाले; न भिद्येत—प्रभावित न होने पाए; अस्य—उसकी; धीः—बुद्धि; यथा—जिससे।

हिरण्यकशिपु ने अपने सहायकों को आदेश दिया: हे असुरो, इस बालक के गुरुकुल में जहाँ पर यह शिक्षा पाता है, इसकी सुरक्षा का पूरा ध्यान रखो जिससे इसकी बुद्धि छद्मवेश में घूमने वाले वैष्णवों द्वारा और अधिक न प्रभावित हो पाए।

तात्पर्य : हमारे कृष्णभावनामृत आन्दोलन में मनुष्य को सामान्य कर्मों की भाँति वेश धारण करने की कला का ज्ञान आवश्यक है, क्योंकि आसुरी साम्राज्य में प्रत्येक व्यक्ति वैष्णव उपदेशों के विरुद्ध रहता है। कृष्णभावनामृत वर्तमान युग के असुरों को तनिक भी नहीं भाता। ज्योंही वे किसी को केसरिया वस्त्र धारण किये, गले में माला डाले तथा मस्तक पर तिलक लगाये देखते हैं कि वे तुरन्त ही क्षुब्ध हो उठते हैं। वे वैष्णवों का उपहास करने के लिए हरे कृष्ण कहकर उनकी आलोचना करते हैं और कुछ लोग तो निष्ठा से हरे कृष्ण का जाप भी करते हैं। प्रत्येक अवस्था में चूँकि हरे कृष्ण परम है, चाहे कोई मजाक में कहे या निष्ठापूर्वक कहे फिर भी इसका प्रभाव पड़ेगा। वैष्णवगण जो प्रसन्न होते हैं जब असुरगण हरे कृष्ण कीर्तन करते हैं, क्योंकि इससे पता चलता है कि हरे कृष्ण आन्दोलन की जड़ें गहरा रही हैं। वैष्णवों को दण्डित करने के लिए हिरण्यकशिपु जैसे बड़े-बड़े असुर सदैव तत्पर रहते हैं और ऐसी व्यवस्था करते हैं जिससे वैष्णव लोग न तो अपनी पुस्तकें बेचने, न ही कृष्णभावनामृत का प्रचार करने आएँ। इस प्रकार हिरण्यकशिपु ने जो कुछ बहुत समय पहले किया था, वही आज भी

हो रहा है। यही भौतिकतावादी जीवन-शैली है। असुर या भौतिकतावादी नहीं चाहते कि कृष्णभावनामृत किसी प्रकार उन्नति करे और वे इसमें नाना प्रकार से विघ्न डालने का प्रयास करते रहते हैं। इतने पर भी कृष्णभावनामृत के प्रचारकों को अपना वैष्णव वेश बना कर या अन्य वेश में उपदेश देने के लिए आगे बढ़ते जाना चाहिए। चाणक्य पंडित का कहना है कि यदि ईमानदार व्यक्ति को किसी बहुत बड़े ठग से पाला पड़े तो यह आवश्यक है कि वह भी ठग बने—ठगने के उद्देश्य से नहीं अपितु अपने उपदेश कार्य को सफल बनाने के लिए।

गृहमानीतमाहूय प्रह्लादं दैत्ययाजकाः ।

प्रशस्य श्लक्ष्णया वाचा समपृच्छन्त सामभिः ॥ ८ ॥

### शब्दार्थ

गृहम्—अध्यापकों ( षण्ड तथा अमर्क ) के घर तक; आनीतम्—लाया गया; आहूय—पुकार कर; प्रह्लादम्—प्रह्लाद को; दैत्य-याजकाः—हिरण्यकशिपु के पुरोहित; प्रशस्य—शान्त करके; श्लक्ष्णया—अत्यन्त नम्रतापूर्वक; वाचा—वाणी; समपृच्छन्त—प्रश्न पूछा; सामभिः—अत्यन्त अनुकूल शब्दों से।

जब हिरण्यकशिपु के नौकर बालक प्रह्लाद को गुरुकुल वापस ले आये तो असुरों के पुरोहित षण्ड तथा अमर्क ने उसे शान्त किया। उन्होंने अत्यन्त मृदु वाणी तथा स्नेह भरे शब्दों से उससे इस प्रकार पूछा।

तात्पर्य : षण्ड तथा अमर्क असुरों के पुरोहित थे। वे प्रह्लाद महाराज से यह जानने के लिए उत्सुक थे कि वे कौन से वैष्णव हैं, जो उसे कृष्णभावनामृत का उपदेश देने आते हैं। उसका मन्तव्य उन वैष्णवों के नामों का पता लगाना था। प्रारम्भ में उन्होंने बालक को डराया-धमकाया नहीं, क्योंकि ऐसा करने पर हो सकता था कि वह असली दोषियों के नाम न बताता। अतएव उन्होंने अत्यन्त मृदु तथा शान्त भाव से इस प्रकार पूछा।

वत्स प्रह्लाद भद्रं ते सत्यं कथय मा मृषा ।

बालानति कुतस्तुभ्यमेष बुद्धिविपर्ययः ॥ ९ ॥

### शब्दार्थ

वत्स—हे पुत्र; प्रह्लाद—प्रह्लाद; भद्रम् ते—तुम्हारा कल्याण हो; सत्यम्—सत्य; कथय—बतलाओ; मा—मत; मृषा—मिथ्या, झूठ; बालान् अति—अन्य असुर बालकों से बढ़कर; कुतः—कहाँ से; तुभ्यम्—तुमको; एषः—इस; बुद्धि—बुद्धि का; विपर्ययः—विकार, प्रदूषण।

हे पुत्र प्रह्लाद, तुम्हारा क्षेम तथा कल्याण हो। तुम झूठ मत बोलना। ये बालक जिन्हें तुम देख

रहे हो, वे तुम जैसे नहीं हैं, क्योंकि ये सब पथभ्रष्ट जैसे नहीं बोलते। तुमने ये उपदेश कहाँ से सीखे? तुम्हारी बुद्धि इस तरह कैसे बिगड़ गई है?

तात्पर्य : प्रह्लाद महाराज अभी बालक ही थे, अतएव उनके अध्यापकों ने सोचा कि यदि इस बालक को फुसला सकें तो वह तुरन्त सच बता देगा और यह रहस्य प्रकट कर देगा कि किस प्रकार वैष्णवजन आकर उसे भक्ति का पाठ पढ़ा जाते हैं। निस्सन्देह, यह विस्मयजनक था कि उसी पाठशाला के अन्य दैत्य बालक बिगड़े नहीं थे, केवल प्रह्लाद महाराज ही वैष्णवों के उपदेश से बिगड़े थे। अध्यापकों का मुख्य कर्तव्य था कि वे पता लगाएँ कि वे वैष्णव कौन थे, जो वहाँ आकर प्रह्लाद को शिक्षा देते थे और उसकी बुद्धि को बिगाड़ रहे थे।

बुद्धिभेदः परकृत उताहो ते स्वतोऽभवत् ।  
भण्यतां श्रोतुकामानां गुरुणां कुलनन्दन ॥ १० ॥

#### शब्दार्थ

बुद्धि-भेदः—बुद्धि भ्रष्ट होना; पर-कृतः—शत्रुओं द्वारा किया गया; उताहो—अथवा; ते—तुम्हारा; स्वतः—अपने से; अभवत्—था; भण्यताम्—हमें बताओ; श्रोतु-कामानाम्—सुनने के इच्छुक; गुरुणाम्—अपने अध्यापकों का; कुल-नन्दन—हे अपने वंश के सर्वश्रेष्ठ।

हे कुलश्रेष्ठ, तुम्हारी बुद्धि का यह विकार अपने आप आया है या शत्रुओं द्वारा लाया गया है? हम सब तुम्हारे अध्यापक हैं और इसके विषय में जानने के इच्छुक हैं। हमसे सच-सच कहो।

तात्पर्य : प्रह्लाद महाराज के अध्यापक आश्चर्यचकित थे कि इतना छोटा बालक किस तरह ऐसे उच्च वैष्णव-दर्शन की बातें कर सकता है। अतएव उन्होंने उन वैष्णवों के विषय में जानना चाहा जो चोरी-चोरी उसे शिक्षा दे रहे थे जिससे वे वैष्णव बन्दी बनाये जा सकें और प्रह्लाद के पिता हिरण्यकशिपु के समक्ष मारे जा सकें।

#### श्रीप्रह्लाद उवाच

परः स्वश्चेत्यसद्ग्राहः पुंसां यन्मायया कृतः ।  
विमोहितधियां दृष्टस्तस्मै भगवते नमः ॥ ११ ॥

#### शब्दार्थ

श्री-प्रह्लादः उवाच—प्रह्लाद महाराज ने उत्तर दिया; परः—शत्रु; स्वः—स्वजन या मित्र; च—भी; इति—इस प्रकार; असत्-ग्राहः—जीवन की भौतिक धारणा; पुंसाम्—मनुष्यों की; यत्—जिसकी; मायया—माया से; कृतः—उत्पन्न; विमोहित—

मोहग्रस्त; धियाम्—बुद्धिवालों का; दृष्टः—साक्षात् अनुभव किया गया; तस्मै—उस; भगवते—भगवान् को; नमः—मेरा नमस्कार है।

प्रह्लाद महाराज ने उत्तर दिया: मैं उन भगवान् को सादर नमस्कार करता हूँ जिनकी माया ने मनुष्यों की बुद्धि को चकमा देकर 'मेरे मित्र' तथा 'मेरे शत्रु' में अन्तर उत्पन्न किया है। निस्सन्देह, मुझको अब इसका वास्तविक अनुभव हो रहा है, यद्यपि मैंने पहले इसके विषय में प्रामाणिक स्रोतों से सुन रखा है।

तात्पर्य : जैसाकि भगवद्गीता (५.१८) में कहा गया है—

*विद्या विनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि।*

*शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः ॥*

“विनीत साधु अपने असली ज्ञान के बल पर एक विद्वान तथा भद्र ब्राह्मण, गाय, हाथी, कुत्ता तथा चाण्डाल (अछूत) को समान दृष्टि से देखता है।” जो पण्डितः हैं—अर्थात् जो वास्तव में विद्वान हैं, समदर्शी हैं, उन्नत भक्त जिन्हें प्रत्येक वस्तु का पूरा-पूरा ज्ञान है किसी भी प्राणी को मित्र या शत्रु के रूप में नहीं देखते। अपितु व्यापक दृष्टि होने से वे सबों को कृष्ण के अंश रूप में देखते हैं जैसाकि श्री चैतन्य महाप्रभु ने पुष्टि की है (जीवेर 'स्वरूप' हय कृष्णोर 'नित्य दास')। प्रत्येक जीव भगवान् का अंश होने के कारण उनकी सेवा के लिए आया है, जिस तरह शरीर का प्रत्येक अंग पूरे शरीर की सेवा के लिए होता है।

सारे जीव भगवान् के दास के रूप में एक से हैं, लेकिन वैष्णव स्वाभाविक अपनी विनम्रता के कारण प्रत्येक अन्य जीव को प्रभु कहकर सम्बोधित करता है। वह अन्य दासों को इतना आगे बढ़ा देखता है कि उसे उनसे बहुत कुछ सीखने को मिलता है। इस तरह वह भगवान् के अन्य सभी भक्तों को प्रभु के रूप में स्वीकार करता है। यद्यपि प्रत्येक व्यक्ति भगवान् का दास है, लेकिन अपनी विनम्रता के कारण वैष्णव दास दूसरे दास को अपना प्रभु (स्वामी) मानता है। प्रभु का ज्ञान गुरु के ज्ञान से प्रारम्भ होता है—

*यस्य प्रसादाद् भगवत्प्रसादो*

*यस्याप्रसादान् न गतिः कुतोऽपि।*

“गुरु की कृपा होने पर मनुष्य को कृष्ण का आशीर्वाद प्राप्त होता है। गुरु की कृपा के बिना

किसी भी तरह की प्रगति नहीं हो सकती।”

साक्षाद् धरित्वेन समस्तशास्त्रै-

रुक्तस्तथा भाव्यत एव सद्भिः ।

किन्तु प्रभोर्यः प्रिय एव तस्य

वन्दे गुरोः श्रीचरणारविन्दम् ॥

“गुरु का उतना ही आदर किया जाना चाहिए जितना कि भगवान् का किया जाता है क्योंकि वह भगवान् का परम विश्वस्त सेवक है। इसे समस्त शास्त्रों ने स्वीकार किया है और सारे विद्वान इसका पालन करते हैं। अतएव मैं ऐसे गुरु के चरणकमलों को सादर प्रणाम करता हूँ जो श्रीहरि (कृष्ण) के प्रामाणिक प्रतिनिधि हैं।” ईश्वर का दास गुरु भगवान् की अत्यन्त गुह्य सेवा में लगा रहता है। यह सेवा समस्त बद्धजीवों को माया के चंगुल से मुक्त करती है, जिसमें मनुष्य सोचता है “यह व्यक्ति मेरा शत्रु है और यह मेरा मित्र है।” वास्तव में भगवान् समस्त जीवों के मित्र हैं और सारे जीव भगवान् के नित्य दास हैं। एकत्व तो इसी ज्ञान से सम्भव है, न कि कृत्रिम विचार से कि हममें से प्रत्येक ईश्वर है या ईश्वर के तुल्य है। असली ज्ञान तो यही है कि ईश्वर परम प्रभु हैं और हम सभी उनके दास हैं, अतएव हम सभी एक ही स्तर (पद) पर हैं। प्रह्लाद महाराज को उनके गुरु नारद ने पहले ही यह सिखला दिया था, किन्तु तो भी प्रह्लाद को आश्चर्य हो रहा था कि किस तरह मोहग्रस्त जीव किसी को अपना मित्र और किसी को अपना शत्रु मानता है।

जब तक मनुष्य द्वैत दर्शन से चिपका रहता है और किसी को मित्र तथा किसी को शत्रु मानता है तब तक उसे माया के पाश में समझना चाहिए। मायावादी दार्शनिक भी भ्रम में रहता है, क्योंकि वह समस्त जीवों को ईश्वर मानकर उन्हें एक समझता है। कोई भी व्यक्ति ईश्वर के तुल्य नहीं है। दास कभी प्रभु (स्वामी) के तुल्य नहीं हो सकता। वैष्णव दर्शन के अनुसार स्वामी (प्रभु) एक है और दास भी एक हैं लेकिन स्वामी तथा दास में मुक्त अवस्था में भी अन्तर बना रहता है। बद्ध अवस्था में हम सोचते हैं कि कुछ प्राणी हमारे मित्र हैं और अन्य हमारे शत्रु हैं। इस तरह हम द्वैत भाव में बने रहते हैं। किन्तु मुक्त अवस्था में ईश्वर प्रभु के रूप में और सारे जीव ईश्वर के दास होने के कारण एक होते हैं।

स यदानुव्रतः पुंसां पशुबुद्धिर्विभिद्यते ।  
अन्य एष तथान्योऽहमिति भेदगतासती ॥ १२ ॥

### शब्दार्थ

सः—वह भगवान्; यदा—जब; अनुव्रतः—अनुकूल या प्रसन्न; पुंसाम्—बद्धजीवों का; पशु-बुद्धिः—जीवन के विषय में पाशविक धारणा है ( कि मैं भगवान् हूँ और हर एक ईश्वर है ); विभिद्यते—नष्ट हो जाता है; अन्यः—दूसरा; एषः—यह; तथा—भी; अन्यः—दूसरा; अहम्—मैं; इति—इस प्रकार; भेद—अन्तर; गत—से युक्त; असती—संकटपूर्ण ।

जब भगवान् किसी जीव से उसकी भक्ति के कारण प्रसन्न हो जाते हैं, तो वह पण्डित बन जाता है और वह शत्रु, मित्र तथा अपने में कोई भेद नहीं मानता। तब वह बुद्धिमानी से सोचता है कि हम सभी ईश्वर के नित्य दास हैं, अतएव हम एक दूसरे से भिन्न नहीं हैं।

तात्पर्य : जब प्रह्लाद महाराज के अध्यापकों तथा आसुरी पिता ने पूछा कि उसकी बुद्धि किस तरह दूषित हो गई है, तो प्रह्लाद महाराज ने कहा—“जहाँ तक मेरा प्रश्न है, मेरी बुद्धि दूषित नहीं की गई है। परन्तु अपने गुरु की कृपा से तथा भगवान् कृष्ण की कृपा से मैंने अब यह सीखा है कि न तो कोई मेरा मित्र है और न कोई शत्रु है। वास्तव में हम सभी कृष्ण के नित्य दास हैं, किन्तु माया के प्रभाव से हम सोचते हैं कि हम एक दूसरे के शत्रु तथा मित्र रूप में भगवान् से भिन्न स्थित हैं। अब यह भ्रम दूर हो गया है, अतएव मैं सामान्य मनुष्यों की तरह नहीं रहा। अब मैं यह नहीं सोचता कि मैं ईश्वर हूँ और अन्य लोग मेरे शत्रु तथा मित्र हैं। अब मैं ठीक ही सोचता हूँ कि हर कोई ईश्वर का नित्य दास है और हमारा कर्तव्य है कि इन परम प्रभु की सेवा की जाये, क्योंकि तब हम दास के रूप में एकत्व के पद पर खड़े होंगे।”

असुरगण प्रत्येक व्यक्ति को मित्र या शत्रु मानते हैं, लेकिन वैष्णवों का कहना है कि चूँकि प्रत्येक व्यक्ति भगवान् का दास है, अतएव प्रत्येक व्यक्ति एक जैसे पद पर है। अतः एक वैष्णव अन्य जीवों को न तो शत्रु मानता है, न मित्र अपितु कृष्णभावनामृत का प्रसार करता है हर एक को यह शिक्षा देता है कि हम सभी भगवान् के दास के रूप में एक हैं, किन्तु हम राष्ट्रों, जातियों तथा शत्रु-मित्रों के वर्गों को जन्म देकर अपने अमूल्य जीवन व्यर्थ गँवा रहे हैं। प्रत्येक व्यक्ति को कृष्णभावनामृत पद प्राप्त करके भगवान् के दास रूप में एकत्व का अनुभव करना चाहिए। यद्यपि जीवन की चौरासी लाख योनियाँ हैं, किन्तु एक वैष्णव उनमें इस एकत्व का अनुभव करता है। *ईशोपनिषद्* का उपदेश है—*एकत्वम् अनुपश्यतः*। भक्त को चाहिए कि भगवान् को प्रत्येक प्राणी के हृदय में स्थित देखे और यह भी देखे कि प्रत्येक जीव भगवान् के नित्य दास के रूप में है। यह दृष्टि *एकत्वम्* कहलाती है। यद्यपि

दास तथा स्वामी का सम्बन्ध रहता है, किन्तु दास तथा स्वामी अपनी आध्यात्मिक पहचान के कारण एक हैं। यह भी *एकत्वम्* है। अतएव वैष्णव की *एकत्वम्* की धारणा मायावादी की धारणा से भिन्न है।

हिरण्यकशिपु ने प्रह्लाद महाराज से पूछा कि वह अपने परिवार से विपरीत क्यों हो गया है? जब किसी परिवार का कोई सदस्य किसी शत्रु द्वारा मारा जाता है, तो उस परिवार के सारे सदस्य उस हत्यारे के शत्रु बन जाते हैं, लेकिन हिरण्यकशिपु देख रहा था कि प्रह्लाद का तो हत्यारे से मैत्री-भाव था। अतएव उसने पूछा “किसने तुममें इस तरह की बुद्धि उत्पन्न की है? क्या तुमने स्वयं यह चेतना विकसित की है? चूँकि तुम छोटे से बालक हो, अतएव किसी ने अवश्य ही तुम्हें इस तरह सोचने के लिए प्रेरित किया है।” प्रह्लाद महाराज कहना चाहते थे कि विष्णु के अनुकूल मनोवृत्ति तभी विकसित हो सकती है जब भगवान् अनुकूल हों ( *स यदानुव्रतः* )। जैसाकि *भगवद्गीता* में कहा गया है—कृष्ण सबों के मित्र हैं ( *सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति* )। भगवान् कभी भी लाखों जीवों में से किसी के भी शत्रु नहीं होते। वे तो सदा सबों के मित्र हैं। यही असली ज्ञान है। यदि कोई सोचता है कि भगवान् शत्रु हैं, तो उसकी बुद्धि पशुबुद्धि है। वह झूठ ही सोचता है “मैं अपने शत्रु से भिन्न हूँ और मेरा शत्रु मुझसे भिन्न है। चूँकि शत्रु ने ऐसा किया है अतएव मेरा कर्तव्य है कि मैं उसका वध करूँ।” इस भ्रान्त धारणा को इस श्लोक में *भेदगतासती* के रूप में वर्णित किया गया है। वास्तविक तथ्य यह है कि प्रत्येक व्यक्ति भगवान् का दास है जैसाकि श्री चैतन्य महाप्रभु ने *चैतन्य-चरितामृत* में पुष्टि की है ( *जीवेर 'स्वरूप' हय—कृष्णोर 'नित्यदास'* )। ईश्वर के दास रूप में हम सभी एक हैं और शत्रुता और मित्रता का प्रश्न ही नहीं उठता। यदि मनुष्य वास्तव में यह समझ ले कि हममें से प्रत्येक व्यक्ति भगवान् का दास है, तो फिर शत्रु या मित्र का प्रश्न कहाँ उठता है?

भगवान् की सेवा करने के लिए सबों को मैत्रीभाव रखना चाहिए। हर एक को चाहिए कि दूसरे द्वारा की गई भगवान् की सेवा की प्रशंसा करे और अपनी ही सेवा पर गर्वित न हो। यही वैष्णवों के सोचने की विधि या वैकुण्ठ विचार है। सेवा करने के लिए दासों में स्पर्द्धा हो सकती है, बाह्य रूप से होड़ लग सकती है, किन्तु वैकुण्ठ लोक में तो दूसरे दास की सेवा प्रशंसित होती है, निन्दित नहीं। यह वैकुण्ठ की स्पर्द्धा है। यहाँ पर दासों के मध्य शत्रुता का प्रश्न ही नहीं उठता। प्रत्येक व्यक्ति को पूरी सामर्थ्य भर भगवान् की सेवा करने देना चाहिए और हर एक को चाहिए कि दूसरे द्वारा की जाने वाली

सेवा को समझे। वैकुण्ठ के कार्यकलाप ऐसे ही हैं। चूँकि हर व्यक्ति दास है अतएव हर एक समान स्तर (पद) पर होता है और उसे अपनी सामार्थ के अनुसार भगवान् की सेवा करने दी जाती है। जैसाकि *भगवद्गीता* से (१५.१५) पुष्ट होता है—*सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टो मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च*—भगवान् सबों के हृदय में स्थित हैं और दास की मनोवृत्ति के अनुसार आदेश देते रहते हैं। किन्तु भगवान् भक्तों तथा अभक्तों को भिन्न-भिन्न आदेश देते हैं। अभक्तगण परमेश्वर की सत्ता को चुनौती देते हैं, अतएव भगवान् ऐसा आदेश देते हैं जिससे अभक्त जन्म-जन्मातर भगवान् की सेवा को भूलता रहता है और प्रकृति के नियमों द्वारा दण्डित होता है। किन्तु जब भक्त अत्यन्त निष्ठापूर्वक भगवान् की सेवा करना चाहता है, तो भगवान् भिन्न रीति से आदेश देते हैं। जैसाकि *भगवद्गीता* (१०.१०) में भगवान् कहते हैं—

*तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम् ।*

*ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते ॥*

“जो निरन्तर मेरी भक्ति करते हैं और प्रेमपूर्वक मेरी पूजा करते हैं उन्हें मैं बुद्धि देता हूँ जिससे वे मेरे पास आ सकते हैं।” प्रत्येक व्यक्ति वास्तव में दास है, वह न तो शत्रु है, न मित्र और हर व्यक्ति भगवान् के पृथक्-पृथक् आदेशानुसार कार्य कर रहा है, क्योंकि वे प्रत्येक जीव को उसकी मानसिकता के अनुसार निर्देश देते हैं।

स एष आत्मा स्वपरेत्यबुद्धिभि-

दुर्त्ययानुक्रमणो निरूप्यते ।

मुह्यन्ति यद्वर्त्मनि वेदवादिनो

ब्रह्मादयो ह्येष भिनत्ति मे मतिम् ॥ १३ ॥

### शब्दार्थ

सः—वह; एषः—यह; आत्मा—प्रत्येक हृदय में स्थित परमात्मा; स्व-पर—यह मेरा कार्य है और वह दूसरे का है; इति—इस प्रकार; अबुद्धिभिः—ऐसी खराब बुद्धि वालों के द्वारा; दुर्त्यय—पालन करना अत्यन्त दुष्कर; अनुक्रमणः—जिसकी भक्ति; निरूप्यते—निश्चित की जाती है (शास्त्रों या गुरु के उपदेशों से); मुह्यन्ति—मोहित हो जाते हैं; यत्—जिसके; वर्त्मनि—रास्ते में; वेद-वादिनः—वैदिक आदेशों के अनुयायी; ब्रह्म-आदयः—ब्रह्मा से लेकर देवगण तक; हि—निस्सन्देह; एषः—यह; भिनत्ति—बदल देती है; मे—मेरी; मतिम्—बुद्धि को।

जो लोग सदैव 'शत्रु' तथा 'मित्र' के बारे में सोचते हैं, वे अपने भीतर परमात्मा को स्थिर कर पाने में असमर्थ रहते हैं। इनकी जाने दें, ब्रह्मा जैसे बड़े-बड़े पुरुष जो वैदिक साहित्य से पूरी



तरह अभिज्ञ हैं कभी-कभी भक्ति के सिद्धान्तों का पालन करते हुए मोहग्रस्त हो जाते हैं। जिस भगवान् ने यह परिस्थिति उत्पन्न की है उसी ने ही मुझे आपके तथाकथित शत्रु का पक्षधर बनने की बुद्धि दी है।

तात्पर्य : प्रह्लाद महाराज ने खुल कर स्वीकार किया—“हे अध्यापको! आप त्रुटिवश सोचते हैं कि भगवान् विष्णु आपके शत्रु हैं, लेकिन चूँकि वे मुझ पर अनुकूल हैं, अतएव मैं समझता हूँ कि वे सबों के मित्र हैं। आप भले ही यह सोचें कि मैंने आपके शत्रु का पक्ष ग्रहण किया है, लेकिन वास्तव में उन्होंने मुझ पर महान् कृपा की है।”

यथा भ्राम्यत्ययो ब्रह्मन्स्वयमाकर्षसन्निधौ ।

तथा मे भिद्यते चेतश्चक्रपाणेर्यदृच्छया ॥ १४ ॥

#### शब्दार्थ

यथा—जिस प्रकार; भ्राम्यति—घूमता है; अयः—लोह; ब्रह्मन्—हे ब्राह्मणो; स्वयम्—अपने आप; आकर्ष—चुम्बक के; सन्निधौ—निकट; तथा—उसी तरह; मे—मेरी; भिद्यते—बदलती है; चेतः—चेतना; चक्र-पाणेः—हाथ में चक्र धारण करने वाले भगवान् विष्णु की; यदृच्छया—केवल इच्छा मात्र से।

हे ब्राह्मणों ( अध्यापको ), जिस प्रकार चुम्बक से आकर्षित लोह स्वतः चुम्बक की ओर जाता है, उसी प्रकार भगवान् विष्णु की इच्छा से बदली हुई मेरी चेतना उन चक्रधारी की ओर आकृष्ट होती है। इस प्रकार मुझे कोई स्वतंत्रता नहीं है।

तात्पर्य : चुम्बक द्वारा लोहे का आकृष्ट होना स्वाभाविक है। उसी तरह सारे जीवों का कृष्ण के प्रति आकृष्ट होना स्वाभाविक है और इसीलिए भगवान् का असली नाम कृष्ण है, जिसका अर्थ है हर एक को तथा हर वस्तु को आकृष्ट करने वाला। ऐसे आकर्षण के विशिष्ट उदाहरण वृन्दावन में मिलते हैं जहाँ हर वस्तु तथा हर कोई कृष्ण द्वारा आकृष्ट होता है। नन्द महाराज तथा यशोदा देवी, वयोवृद्ध लोग, श्रीदामा, सुदामा तथा अन्य ग्वाल-बाल जैसे मित्रगण तथा श्रीमती राधारानी तथा उनकी सखी गोपियाँ और यहाँ तक कि पशु-पक्षी, गाएँ तथा बछड़े तक आकृष्ट होते हैं। बगीचों के फूल-फल आकृष्ट हैं, यमुना की तरंगें आकृष्ट हैं तथा स्थल, आकाश, वृक्ष, पौधे, पशु तथा अन्य सारे जीव आकृष्ट हैं। वृन्दावन में प्रत्येक वस्तु की यह स्वाभाविक स्थिति है।

वृन्दावन के व्यापारों से सर्वथा विपरीत यह भौतिक जगत है जहाँ सारे लोग कृष्ण द्वारा नहीं, अपितु माया द्वारा आकृष्ट होते हैं। आध्यात्मिक तथा भौतिक जगतों का यही अन्तर है। हिरण्यकशिपु

इस भौतिक जगत में होने के कारण स्त्रियों तथा धन के द्वारा आकृष्ट था जबकि प्रह्लाद महाराज अपनी स्वाभाविक स्थिति में होने के कारण कृष्ण द्वारा आकृष्ट थे। जब हिरण्यकशिपु ने पूछा कि प्रह्लाद महाराज का पृथक् दृष्टिकोण क्यों है, तो उन्होंने उत्तर दिया कि उनकी दृष्टि पृथक् नहीं है, क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति की स्वाभाविक स्थिति कृष्ण द्वारा आकृष्ट होने की है। प्रह्लाद ने कहा कि उनका यह दृष्टिकोण इसलिए भिन्न लगता है, क्योंकि हिरण्यकशिपु अप्राकृतिक रूप से कृष्ण से अनाकृष्ट है, अतएव उसके शुद्धिकरण की आवश्यकता है।

ज्योंही मनुष्य भौतिक कल्मष से शुद्ध हो जाता है, तो वह पुनः कृष्ण के प्रति आकृष्ट होता है ( *सर्वोपाधि विनिर्मुक्तं तत्परत्वेन निर्मलम्* )। इस भौतिक जगत में प्रत्येक व्यक्ति इन्द्रियतृप्ति की धूल से कलुषित है और वह विभिन्न उपाधियों के अनुसार कर्म करता है—कभी मनुष्य के रूप में, कभी पशु के रूप में, कभी देवता के रूप में, तो कभी वृक्ष के रूप में। उसे इन सारी उपाधियों को धोकर दूर कर देना चाहिए। तभी वह स्वभावतः कृष्ण के प्रति आकृष्ट होगा। भक्ति द्वारा जीव अपने समस्त अस्वाभाविक आकर्षणों से शुद्ध हो जाता है। जब वह शुद्ध हो जाता है, तो कृष्ण द्वारा आकृष्ट होता है और तब माया की सेवा न करके कृष्ण की सेवा करने लगता है। यही उसकी प्राकृतिक स्थिति है। भक्त कृष्ण द्वारा आकृष्ट होता है, लेकिन अभक्त भौतिक भोग की धूल से कलुषित होने के कारण आकृष्ट नहीं होता। इसकी पुष्टि *भगवद्गीता* (७.२८) में हुई है—

*येषां त्वन्तगतं पापं जनानां पुण्यकर्मणाम् ।*

*ते द्वन्द्वमोहनिर्मुक्ता भजन्ते मां दृढव्रताः ॥*

“जिन्होंने पूर्वजन्म में तथा इस जीवन में पुण्यकर्म किया है, जिनके पाप कर्म पूरी तरह उन्मूलित हो चुके हैं और जो भ्रम के द्वैत से मुक्त हैं, वे ही संकल्पपूर्वक मेरी सेवा में संलग्न होते हैं।” मनुष्य को संसार की पापमयी धूल से सर्वथा मुक्त होना चाहिए। इस संसार का प्रत्येक व्यक्ति भौतिक इच्छा से दूषित है। जब तक वह समस्त भौतिक इच्छाओं से मुक्त नहीं हो लेता ( *अन्याभिलाषिता शून्यम्* ), तब तक वह कृष्ण द्वारा आकृष्ट नहीं होता।

श्रीनारद उवाच

एतावद्वाह्याणायोक्त्वा विरराम महामतिः ।

तं सन्निभत्स्यं कुपितः सुदीनो राजसेवकः ॥ १५ ॥

### शब्दार्थ

श्री-नारदः उवाच—श्री नारद महामुनि ने कहा; एतावत्—इतना; ब्राह्मणाय—शुक्राचार्य के पुत्रों से, जो ब्राह्मण थे; उक्त्वा—कहकर; विरराम—मौन हो गये; महा-मतिः—महान् बुद्धि वाले प्रह्लाद महाराज; तम्—उसको ( प्रह्लाद महाराज को ); सन्निभत्स्यं—अत्यन्त भर्त्सना करते हुए; कुपितः—क्रुद्ध होकर; सु-दीनः—विचारों में दरिद्र या अत्यधिक शोकमग्न; राज-सेवकः—राजा हिरण्यकशिपु के सेवकगण ।

श्री नारद महामुनि ने आगे कहा : शुक्राचार्य के पुत्रों अर्थात् अपने शिक्षकों षण्ड तथा अमर्क से यह कहने के बाद महात्मा प्रह्लाद महाराज मौन हो गये । तब ये तथाकथित ब्राह्मण उन पर क्रुद्ध हुए । चूँकि वे हिरण्यकशिपु के दास थे अतएव वे अत्यन्त दुखी थे । वे प्रह्लाद महाराज की भर्त्सना करने के लिए इस प्रकार बोले ।

तात्पर्य : शुक्राचार्य ( शुक्र का अर्थ है वीर्य ) के पुत्र जन्म से ब्राह्मण थे, किन्तु असली ब्राह्मण तो वह है, जिसमें ब्राह्मण के गुण पाये जाँए । षण्ड तथा अमर्क शुक्राचार्य के वीर्य से उत्पन्न होने के कारण ब्राह्मण तो थे, किन्तु उनमें असली ब्राह्मण के गुण नहीं थे, क्योंकि वे हिरण्यकशिपु की नौकरी करते थे । वास्तविक ब्राह्मण किसी को भी कृष्ण का भक्त बनते देखकर अत्यन्त प्रसन्न होता है, अपने शिष्य के विषय में तो कुछ कहना ही नहीं । ऐसे ब्राह्मण अपने परम स्वामी को प्रसन्न करने के लिए होते हैं । ब्राह्मण को किसी अन्य का दास बनने के लिए वर्जित किया गया है, क्योंकि यह तो कुत्तों तथा शूद्रों का कार्य है । कुत्ते को अपने स्वामी को प्रसन्न रखना पड़ता है, लेकिन ब्राह्मण को अन्य किसी को प्रसन्न नहीं करना होता, उसे मात्र कृष्ण को प्रसन्न करना होता है ( आनुकूल्येन कृष्णानुशीलनम् ) । ब्राह्मण की असली योग्यता यही है । चूँकि षण्ड तथा अमर्क जन्मना ब्राह्मण थे और हिरण्यकशिपु जैसे स्वामी के दास हो गये थे, अतएव व्यर्थ ही प्रह्लाद महाराज को दण्डित करना चाहते थे ।

आनीयतामरे वेत्रमस्माकमयशस्करः ।

कुलाङ्गारस्य दुर्बुद्धेश्चतुर्थोऽस्योदितो दमः ॥ १६ ॥

### शब्दार्थ

आनीयताम्—लायी जाये; अरे—ओह; वेत्रम्—बेंत, छड़ी; अस्माकम्—हमारी; अयशस्करः—अपयश लाने वाला; कुल-अङ्गारस्य—जो कुल में अंगार के सदृश है उसका; दुर्बुद्धेः—दुर्बुद्धि वाले; चतुर्थः—चौथा; अस्य—उसका; उदितः—घोषित; दमः—दण्ड ( हठ न्याय ) ।

अरे! मेरी छड़ी तो लाओ! यह प्रह्लाद हम लोगों के नाम और यश में बट्टा लगा रहा है । अपनी दुर्बुद्धि के कारण यह असुरों के कुल में अंगार बन गया है । अब राजनीतिक कूटनीति के चार

प्रकारों में से चौथे के द्वारा इसका उपचार किये जाने की आवश्यकता है।

**तात्पर्य :** राजनीतिक मामलों में जब कोई व्यक्ति सरकार के विरुद्ध अवज्ञा दिखलाता है, तो उसके दमन के लिए चार नियमों का प्रयोग किया जाता है—कानूनी आदेश, शमन करना, पद प्रदान करना या अन्ततः हथियार का प्रयोग। जब कोई तर्क शेष नहीं रहते तो उसे दण्डित किया जाता है। तर्कशास्त्र में इसे हठ न्याय कहते हैं। षण्ड तथा अमर्क नामक दोनों ब्राह्मण जब प्रह्लाद महाराज से अपने पिता से भिन्न मत होने का कारण कहलवा नहीं पाये तो उन्होंने अपने स्वामी हिरण्यकशिपु को प्रसन्न करने के लिए बेंट मँगवाया जिससे वे उसे दण्ड दे सके। चूँकि प्रह्लाद भक्त बन चुका था, अतएव उन्होंने सोचा कि वह दुर्बुद्धि से कलुषित हो चुका है और असुरों के कुल के लिए निकृष्टतम सन्तान है। जैसाकि कहावत है “जहाँ अज्ञान ही वरदान बन जाता है, वहाँ बुद्धिमान होना मूर्खता है।” जिस समाज या परिवार का हर व्यक्ति असुर हो वहाँ किसी का वैष्णव बनना सरासर मूर्खता है। इस तरह प्रह्लाद महाराज पर दुर्बुद्धि का आरोप लगाया गया, क्योंकि वे असुरों के बीच में थे जिनमें उनके शिक्षक भी सम्मिलित थे, जो कहने भर के ब्राह्मण थे।

हमारे कृष्णभावनामृत आन्दोलन के सदस्यों की स्थिति प्रह्लाद महाराज जैसी है। सारे विश्व में ९९ प्रतिशत लोग ईश्वरविहीन असुर हैं, अतएव प्रह्लाद महाराज का अनुसरण करते हुए हम लोगों का प्रचार-कार्य सदैव अनेक अवरोधों से ग्रस्त रहता है। जिन अमरीकी बालकों ने कृष्णभावनामृत के प्रचार कार्य में अपना सर्वस्व बलिदान कर दिया है उन्हें भक्त होने के दोष में सी. आई. ए. का सदस्य बतलाया जाता है। यही नहीं, भारत के शुक्र-ब्राह्मण, जो यह मानते हैं कि कोई ब्राह्मण तभी हो सकता है, जब वह ब्राह्मण कुल में जन्मा हो, हम पर आरोप लगाते हैं कि हम हिन्दू धर्म को विनष्ट कर रहे हैं। निस्सन्देह, तथ्य यह है कि योग्यता से ही कोई ब्राह्मण बन सकता है। चूँकि हम यूरोपवासियों तथा अमरीकियों को योग्य बनने की शिक्षा दे रहे हैं और उन्हें ब्राह्मण पद प्रदान कर रहे हैं, अतएव हम पर हिन्दू धर्म को विनष्ट करने का आरोप लगाया जाता है। फिर भी हमें सभी प्रकार की कठिनाइयों का सामना करते हुए प्रह्लाद महाराज की भाँति ही दृढसंकल्प होकर कृष्णभावनामृत का प्रसार करना है। असुरराज हिरण्यकशिपु का पुत्र होते हुए भी प्रह्लाद कभी भी आसुरी पिता के शुक्र से उत्पन्न ब्राह्मण पुत्रों की प्रताड़ना से भयभीत नहीं हुए।

दैतेयचन्दनवने जातोऽयं कण्टकद्रुमः ।

यन्मूलोन्मूलपरशोर्विष्णोर्नालायितोऽर्भकः ॥ १७ ॥

### शब्दार्थ

दैतेय—दैत्य वंश के; चन्दन-वने—चन्दन वन में; जातः—उत्पन्न; अयम्—यह; कण्टक-द्रुमः—कँटीला वृक्ष; यत्—जिसकी; मूल—जड़ों के; उन्मूल—काटने में; परशोः—जो कुल्हाड़े की भाँति है; विष्णोः—भगवान् विष्णु; नालायितः—हत्था या बेंट; अर्भकः—बालक ।

यह धूर्त प्रह्लाद चन्दन के वन में कँटीले वृक्ष के समान प्रकट हुआ है। चन्दन-वृक्ष काटने के लिए कुल्हाड़े की आवश्यकता होती है और कँटीले वृक्ष की लकड़ी ऐसे कुल्हाड़े का हत्था बनाने के लिए अत्यन्त उपयुक्त होती है। भगवान् विष्णु दैत्य वंश रूपी चन्दन वन को काट गिराने के लिए कुल्हाड़े के तुल्य हैं और यह प्रह्लाद उस कुल्हाड़े का हत्था ( बेंट ) है।

तात्पर्य : सामान्यतया कँटीले वृक्ष मरुस्थल में उगते हैं, वे चन्दन वन में नहीं उगते किन्तु शुक्र-ब्राह्मण षण्ड-अमर्क नामक ब्राह्मणों ने दैत्यराज हिरण्यकशिपु के वंश की तुलना चन्दन वन से की और प्रह्लाद महाराज की तुलना उस कठोर बलिष्ठ कँटीले वृक्ष से की जिससे कुल्हाड़े का हत्यार बनाया जाता है। उन्होंने भगवान् विष्णु की तुलना कुल्हाड़े से की। अकेला कुल्हाड़ा कँटीले वृक्ष को नहीं काट सकता, इस के लिए कण्टीले लकड़ी से बने हाथे की आवश्यकता होती है। इस प्रकार उस कँटीले वृक्ष जैसी आसुरी सभ्यता को *विष्णु भक्ति* रूपी कुल्हाड़े से ही खण्ड-खण्ड किया जा सकता है। इस आसुरी सभ्यता रूपी कुल्हाड़े का प्रह्लाद महाराज जैसा कोई सदस्य बेंट बनकर भगवान् विष्णु की सहायता कर सकता है और इस तरह आसुरी सभ्यता का समूचा वन खण्ड-खण्ड किया जा सकता है।

इति तं विविधोपायैर्भीषयंस्तर्जनादिभिः ।

प्रह्लादं ग्राहयामास त्रिवर्गस्योपपादनम् ॥ १८ ॥

### शब्दार्थ

इति—इस तरह से; तम्—उसको ( प्रह्लाद महाराज को ); विविध-उपायैः—अनेक प्रकार से; भीषयन्—धमकाते हुए; तर्जन-आदिभिः—ताड़ना आदि के द्वारा.; प्रह्लादम्—प्रह्लाद महाराज को; ग्राहयाम् आस—पढ़ाया; त्रि-वर्गस्य—जीवन के तीन लक्ष्य ( धर्म, अर्थ तथा काम ); उपपादनम्—शास्त्र जो प्रस्तुत करता है।

प्रह्लाद महाराज के शिक्षक षण्ड तथा अमर्क ने अपने शिष्य को तरह-तरह से डराया-धमकाया और उसे धर्म, अर्थ तथा काम के मार्गों के विषय में पढ़ाना प्रारम्भ कर दिया। यह थी उनकी शिक्षा देने की विधि।

**तात्पर्य :** इस श्लोक में *प्रह्लादं ग्राहयाम् आस* पद महत्त्वपूर्ण है। *ग्राहयाम् आस* का शाब्दिक अर्थ होगा कि उन्होंने प्रह्लाद महाराज को धर्म, अर्थ तथा काम के मार्गों को स्वीकार कराने की चेष्टा की। सामान्यतया लोग इन्हीं तीनों में बँधे रहते हैं, उन्हें मुक्ति मार्ग में कोई रुचि नहीं रहती। प्रह्लाद महाराज का पिता तो केवल स्वर्ण तथा विषय-भोग में रुचि लेता था। *हिरण्य* शब्द का अर्थ है “सोना” और *कशिपु* का अर्थ है “मुलायम गद्दे” जिन पर लोग इन्द्रियतृप्ति का आनन्द लेते हैं, किन्तु *प्रह्लाद* शब्द सूचक है उस व्यक्ति का जो ब्रह्म को जानने से सदैव प्रसन्न रहता है ( *ब्रह्मभूत प्रसन्नात्मा* )। *प्रह्लाद* का अर्थ है प्रसन्नात्मा, अर्थात् सदैव प्रसन्न रहने वाला। प्रह्लाद भगवान् की पूजा करने में सदैव प्रसन्न रहता था, लेकिन हिरण्यकशिपु के आदेशों के अनुसार, शिक्षकगण उसे भौतिक बातों की शिक्षा देने में अधिक रुचि दिखाते थे। भौतिकतावादी लोग सोचते हैं कि धर्म का पक्ष उनकी भौतिक दशा सुधारने के लिए है। वे मन्दिर में नाना प्रकार के देवताओं की पूजा करने जाते हैं जिससे उनकी भौतिक दशा सुधारने के लिए वर प्राप्त हो सके। वे *साधु* या तथाकथित *स्वामी* के पास इसलिए जाते हैं जिससे भौतिक ऐश्वर्य प्राप्त करने के लिए कोई सुगम विधि प्राप्त हो सके। ये तथाकथित साधु धर्म के नाम पर भौतिक ऐश्वर्य प्राप्त करने के सुगम मार्ग दिखलाकर भौतिकतावादियों की इन्द्रियों को तुष्ट करने का प्रयास करते हैं। कभी-कभी वे कुछ तिलस्म या आशीर्वाद देते हैं। कभी-कभी वे उन्हें सोना बनाकर आकृष्ट करते हैं। तब वे अपने को ईश्वर घोषित करते हैं और ये मूर्ख भौतिकतावादी आर्थिक लाभ के लिए उनकी ओर आकृष्ट होते हैं। इस ठगी के फलस्वरूप अन्य लोग धार्मिक विधि को ग्रहण करने में आनाकानी करते हैं और इसके बजाय वे सामान्य लोगों को भौतिक उन्नति के लिए कार्य करने का उपदेश देते हैं। यही विश्व भर में हो रहा है। आज से नहीं, अपितु अनन्त काल से लोग *मोक्ष* में रुचि नहीं लेते। धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष—ये चार सिद्धान्त हैं। लोग भौतिक रूप से ऐश्वर्यवान् क्यों बने? इन्द्रियतृप्ति के लिए। अतएव लोग भौतिकता पूर्ण जीवनके इन्ही तीन *मार्गों* को अच्छा समझते हैं। किसी की रुचि *मोक्ष* में नहीं होती और *भगवद्भक्ति* तो मोक्ष से भी ऊपर है। अतएव भक्तियोग या कृष्णभावानामृत को समझना अत्यन्त कठिन है। इसकी व्याख्या आगे चलकर प्रह्लाद महाराज द्वारा की जाएगी। षण्ड तथा अमर्क नामक अध्यापकों ने प्रह्लाद महाराज को भौतिकतावादी जीवन-शैली अपनाने के लिए फुसलाया, किन्तु उनका प्रयास व्यर्थ गया।

तत एनं गुरुर्ज्ञात्वा ज्ञातज्ञेयचतुष्टयम् ।  
दैत्येन्द्रं दर्शयामास मातृमृष्टमलङ्कृतम् ॥ १९ ॥

### शब्दार्थ

ततः—तत्पश्चात्; एनम्—उसको ( प्रह्लाद महाराज को ); गुरुः—उसके गुरु; ज्ञात्वा—जानकर; ज्ञात—जाना हुआ; ज्ञेय—जिन्हें जानना है; चतुष्टयम्—चार कूटनीतिक सिद्धान्त-साम, दाम, दंड, भेद; दैत्य-इन्द्रम्—दैत्यों के राजा हिरण्यकशिपु को; दर्शयाम् आस—ले गये, प्रस्तुत किया; मातृ-मृष्टम्—अपनी माता के द्वारा नहलाया जाकर; अलङ्कृतम्—आभूषणों से सजाया जाकर।

कुछ काल बाद षण्ड तथा अमर्क नामक शिक्षकों ने सोचा कि प्रह्लाद महाराज जनता के नेताओं को शान्त करने, उन्हें लाभप्रद आकर्षक नौकरीयाँ देकर प्रसन्न करने, उनमें फूट डालकर उन पर शासन करने तथा अवज्ञा करने पर उन्हें दण्डित करने के कूटनीतिक मामलों में पर्याप्त शिक्षा प्राप्त कर चुका है। तब एक दिन जब प्रह्लाद की माता अपने पुत्र को स्वयं नहला-धुलाकर तथा पर्याप्त आभूषणों से अलंकृत कर चुकी थीं तो उन शिक्षकों ने उसे उसके पिता के समक्ष लाकर प्रस्तुत कर दिया।

तात्पर्य : जो विद्यार्थी शासक या राजा होने वाला हो उसके लिए आवश्यक है कि वह चार कूटनीतिक सिद्धान्तों को सीखे। राजा तथा उसकी प्रजा के बीच सदा प्रतिस्पर्धा चलती है। अतएव जब कोई नागरिक जनसमूह को राजा के विरुद्ध भड़काए तो राजा का धर्म है कि वह उसे बुलाए और मीठी-मीठी वाणी से यह कहकर शान्त करे—“तुम इस राज्य के लिए अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हो। तुम जनता को किसी नये आन्दोलन के लिए क्यों भड़का रहे हो?” यदि वह नागरिक बहलावे में नहीं आता तो राजा को चाहिए कि उसे गवर्नर या मंत्री का कोई लाभप्रद पद कोई भी पद जिस में ऊँचा वेतन मिलता हो—प्रदान करे जिससे वह राजी हो सके। यदि शत्रु फिर भी जनता को भड़काए तो राजा को चाहिए कि शत्रु के खेमे में मतभेद उत्पन्न कर दे। किन्तु यदि वह इतने पर भी न माने तो राजा को चाहिए कि उसे कठोर दण्ड दे—वह उसे कारागार में डाल दे या गोली चलाने वाली पुलिस की टुकड़ी के सामने खड़ा कर दे। हिरण्यकशिपु द्वारा नियुक्त शिक्षकों ने प्रह्लाद महाराज को यह पढ़ाया कि किस प्रकार कूटनीतिज्ञ बना जाये जिससे प्रजा के ऊपर ठीक से शासन किया जा सके।

पादयोः पतितं बालं प्रतिनन्द्याशिषासुरः ।  
परिष्वज्य चिरं दोर्भ्यां परमामाप निर्वृतिम् ॥ २० ॥

**शब्दार्थ**

पादयोः—पावों पर; पतितम्—गिरा हुआ; बालम्—बालक ( प्रह्लाद महाराज ) को; प्रतिनन्द—प्रोत्साहित करते हुए;  
आशिषा—आशीर्वादों से ( “प्रिय पुत्र, तुम दीर्घायु हो और प्रसन्न रहो” ); असुरः—असुर हिरण्यकशिपु ने; परिष्वज्य—चूम  
कर; चिरम्—प्यारवश दीर्घकाल तक; दोर्भ्याम्—अपनी दोनों बाहों से; परमाम्—महान; आप—प्राप्त किया; निर्वृतिम्—हर्ष,  
आनन्द ।

जब हिरण्यकशिपु ने देखा कि उसका पुत्र उसके चरणों पर विनत है और प्रणाम कर रहा है,  
तो उसने तुरन्त ही वत्सल पिता की भाँति अपने पुत्र को आशीर्वाद देते हुए उसे अपनी दोनों बाँहों  
में भरकर उसका आलिंगन किया । पिता स्वभावतः अपने पुत्र का आलिंगन करके प्रसन्न होता है  
और इस तरह हिरण्यकशिपु अत्यन्त प्रसन्न हुआ ।

आरोप्याङ्गमवघ्राय मूर्धन्यश्रुकलाम्बुभिः ।

आसिञ्चन्विकसद्वक्त्रमिदमाह युधिष्ठिर ॥ २१ ॥

**शब्दार्थ**

आरोप्य—बैठाकर; अङ्गम्—गोद में; अवघ्राय मूर्धनि—उसका सिर सूँघ कर; अश्रु—आँसुओं की; कला-अम्बुभिः—बाँहों के  
जल से; आसिञ्चन्—भिगोते हुए; विकसत्-वक्त्रम्—प्रसन्न मुख; इदम्—यह; आह—कहा; युधिष्ठिर—हे महाराज युधिष्ठिर ।

नारद मुनि ने आगे बताया: हे राजा युधिष्ठिर, हिरण्यकशिपु ने प्रह्लाद महाराज को अपनी  
गोद में बैठा लिया और उसका सिर सूँघने लगा । फिर अपने नेत्रों से प्रेमाश्रु ढरकाते हुए और  
बालक के हँसते मुख को भिगोते हुए वह अपने पुत्र से इस प्रकार बोला ।

तात्पर्य : यदि बालक या शिष्य अपने पिता अथवा गुरु के चरणों पर गिरता है, तो गुरु या पिता  
अपने से छोटे का सिर सूँघता है ।

हिरण्यकशिपुरुवाच

प्रह्लादानूच्यतां तात स्वधीतं किञ्चिदुत्तमम् ।

कालेनैतावतायुष्मन्यदशिक्षद्गुरोर्भवान् ॥ २२ ॥

**शब्दार्थ**

हिरण्यकशिपुः उवाच—राजा हिरण्यकशिपु ने कहा; प्रह्लाद—हे प्रह्लाद; अनूच्यताम्—बतलाओ; तात—मेरे पुत्र; स्वधीतम्—  
भलीभाँति सीखा हुआ; किञ्चित्—कुछ; उत्तमम्—अत्यन्त सुन्दर; कालेन एतावता—इतने काल में; आयुष्मन्—चिरंजीव;  
यत्—जो; अशिक्षत्—सीखा है; गुरोः—अपने गुरुओं से; भवान्—तुमने ।

हिरण्यकशिपु ने कहा : हे प्रह्लाद, मेरे पुत्र, हे चिरञ्जीव, इतने काल में तुमने अपने गुरुओं से  
बहुत सारी बातें सुनी हैं । अब तुम उन सब में जिसे सर्वश्रेष्ठ समझते हो उसे मुझसे कह सुनाओ ।

तात्पर्य : इस श्लोक में हिरण्यकशिपु अपने पुत्र से पूछता है कि उसने अपने गुरु से क्या सीखा



है। प्रह्लाद महाराज के गुरु दो प्रकार के थे—एक तो शुक्राचार्य के पुत्र षण्ड तथा अमर्क जिन्हें उनके पिता ने नियुक्त किया था तथा दूसरे गुरु नारद मुनि थे जिन्होंने उन्हें तब शिक्षा दी थी जब वे अपनी माता के गर्भ में थे। प्रह्लाद महाराज ने अपने पिता के प्रश्न का उत्तर उन उपदेशों के आधार पर दिया जिन्हें उन्होंने अपने गुरु नारद से प्राप्त किया था। इस तरह पुनः मतभेद उत्पन्न हो गया, क्योंकि वे अपने गुरु से सीखी सर्वोत्तम बात बताना चाहते थे जबकि हिरण्यकशिपु राजनीति तथा कूटनीति के विषय में सुनना चाह रहा था जिन्हें उन्होंने षण्ड तथा अमर्क से सीखा था। पिता और पुत्र के बीच का यह मतभेद तब बढ़कर और गम्भीर हो गया जब प्रह्लाद महाराज ने अपने गुरु नारद से जो सीखा था उसे बताना शुरू किया।

श्रीप्रह्लाद उवाच

श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम् ।  
अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम् ॥ २३ ॥  
इति पुंसार्पिता विष्णौ भक्तिश्चेन्नवलक्षणा ।  
क्रियेत भगवत्यद्धा तन्मन्येऽधीतमुत्तमम् ॥ २४ ॥

शब्दार्थ

श्री-प्रह्लादः उवाच—प्रह्लाद महाराज ने कहा; श्रवणम्—सुनना; कीर्तनम्—कीर्तन करना; विष्णोः—भगवान् विष्णु का (अन्य किसी का नहीं); स्मरणम्—स्मरण करना; पाद-सेवनम्—चरणों की सेवा करना; अर्चनम्—पूजा करना ( षोडशोपचार अर्थात् १६ प्रकार की साजसामग्री द्वारा ); वन्दनं—स्तुति करना; दास्यम्—दास बनना; सख्यम्—सर्वश्रेष्ठ मित्र बनना; आत्म-निवेदनम्—अपने पास की प्रत्येक वस्तु को समर्पित करना; इति—इस प्रकार; पुंसा अर्पिता—भक्त द्वारा अर्पित; विष्णौ—भगवान् विष्णु पर (अन्य किसी पर नहीं); भक्तिः—भक्ति; चेत्—यदि; नव-लक्षणा—नौ प्रकार वाली; क्रियेत—करना चाहिए; भगवति—भगवान् में; अद्धा—प्रत्यक्षतः या पूर्णतः; तत्—वह; मन्ये—मैं मानता हूँ; अधीतम्—विद्या अध्ययन; उत्तमम्—सर्वोच्च।

प्रह्लाद महाराज ने कहा : भगवान् विष्णु के दिव्य पवित्र नाम, रूप, साज-सामान तथा लीलाओं के विषय में सुनना तथा कीर्तन करना, उनका स्मरण करना, भगवान् के चरणकमलों की सेवा करना, षोडशोपचार विधि द्वारा भगवान् की सादर पूजा करना, भगवान् से प्रार्थना करना, उनका दास बनना, भगवान् को सर्वश्रेष्ठ मित्र के रूप में मानना तथा उन्हें अपना सर्वस्व न्योछावर करना ( अर्थात् मनसा, वाचा, कर्मणा उनकी सेवा करना )—शुद्ध भक्ति की ये नौ विधियाँ स्वीकार की गई हैं। जिस किसी ने इन नौ विधियों द्वारा कृष्ण की सेवा में अपना जीवन अर्पित कर दिया है उसे ही सर्वाधिक विद्वान व्यक्ति मानना चाहिए, क्योंकि उसने पूर्ण ज्ञान प्राप्त कर लिया है।

**तात्पर्य :** जब प्रह्लाद महाराज के पिता ने कहा कि उसने जो कुछ सीखा है उसमें से कुछ सुनाए तो उसने सोचा कि उसने अपने गुरु से जो सीखा है, वह सर्वोत्तम उपदेश है, जबकि उसने षण्ड तथा अमर्क नामक अपने भौतिक गुरुओं से जो सीखा था यह व्यर्थ था। *भक्ति: परेशानुभवो विरक्तिरन्यत्र च* ( *भागवत* ११.२.४२)। यह शुद्ध भक्ति का लक्षण है। शुद्ध भक्त केवल भक्ति में रुचि रखता है, भौतिक बातों में नहीं। भक्ति करने के लिए मनुष्य को सदैव कृष्ण या भगवान् विष्णु के विषय में श्रवण तथा कीर्तन करने में लगना चाहिए। मन्दिर पूजा की विधि *अर्चन* कहलाती है। यहाँ पर यह बताया जाएगा कि अर्चन किस प्रकार किया जाये। मनुष्य को कृष्ण के इन शब्दों में पूर्ण श्रद्धा होनी चाहिए जब वे कहते हैं कि वे सबों के महान् शुभचिन्तक हैं ( *सुहृदं सर्वभूतानाम्* )। भक्त कृष्ण को अपना एकमात्र मित्र मानता है। यह *सख्यम्* कहलाता है। *पुंसार्पिता विष्णौ। पुंसा* शब्द का अर्थ है “समस्त जीवों द्वारा”। ऐसा कोई भेदभाव नहीं है कि केवल एक ही व्यक्ति को या केवल ब्राह्मण को भगवान् की भक्ति करने दिया जाये। हर कोई भक्ति कर सकता है। जैसाकि *भगवद्गीता* (९.३२) में पुष्टि की गई है— *स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम्। यद्यपि स्त्रियाँ, वैश्य तथा शूद्र अल्पज्ञ माने जाते हैं, लेकिन वे भी भक्त बनकर भगवद्धाम जा सकते हैं।*

यज्ञ करने के बाद कभी-कभी सकाम कर्म में लगा व्यक्ति अपने यज्ञफल विष्णु को औपचारिक रूप से समर्पित करता है। किन्तु यहाँ पर कहा गया है *भगवत्यद्धा*—मनुष्य को चाहिए कि प्रत्येक वस्तु सीधे विष्णु को अर्पित करे। यह *संन्यास* कहलाता है (केवल न्यास नहीं)। एक *त्रिदंडी* संन्यासी तीन दण्ड धारण करता है, जो *कायमनोवाक्य*—शरीर, मन तथा वाणी के सूचक हैं। ये सभी विष्णु को अर्पित किये जाने चाहिए। तभी कोई भक्ति प्रारम्भ कर सकता है। सकाम कर्मी पहले कुछ पुण्यकर्म करते हैं और तब वे औपचारिक रूप से या आधिकारिक रूप से विष्णु को उसके फल अर्पित करते हैं। किन्तु असली भक्त पहले अपने शरीर, मन तथा वचनों से कृष्ण को आत्मसमर्पण करता है और तब अपने शरीर, मन तथा वचनों को कृष्ण की इच्छानुसार उनकी सेवा में लगाता है।

श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकूर अपनी पुस्तक ‘तथ्य’ में निम्नलिखित व्याख्या प्रस्तुत करते हैं। *श्रवण* शब्द भगवान् के पवित्र नाम तथा उनके रूप, गुण, पार्षद एवं लीलाओं के वर्णन को कानों से सुनने के लिए आता है जैसाकि *श्रीमद्भागवत*, *भगवद्गीता* तथा अन्य प्रामाणिक शास्त्रों में बतलाया

गया है। इन सन्देशों को सुनने के बाद इन ध्वनियों को स्मरण करके उन्हें बारम्बार दुहराना चाहिए (कीर्तनम्)। स्मरणम् का अर्थ है भगवान् के बारे में अधिकाधिक जानने का प्रयत्न करना और पादसेवनम् का अर्थ है समय तथा परिस्थिति के अनुसार भगवान् के चरणकमलों की सेवा में अपने को लगाना। अर्चनम् का अर्थ है भगवान् विष्णु की उसी रूप में पूजा करना जैसी कि मन्दिरों में की जाती है। मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजि मां नमस्करु—नमस्कार करना या वंदना करना। वन्दनम् का अर्थ है नमस्करु अर्थात् नमस्कार करना या प्रार्थना करना। अपने आपको कृष्ण का चिर दास—नित्य कृष्ण दास—मानना दास्यम् है और कृष्ण का हितचिन्तन सख्यम् कहलाता है। कृष्ण चाहते हैं कि सभी लोग उसकी शरण में जाएँ, क्योंकि सभी लोग स्वभावतः उनके दास हैं। अतएव मनुष्य को चाहिए कि कृष्ण के निष्ठावान् मित्र की भाँति वह उनके दर्शन का प्रचार करे और हर एक से कृष्ण की शरण में जाने के लिए अनुरोध करे। आत्मनिवेदनम् का अर्थ है कृष्ण को प्रत्येक वस्तु अर्पित करना जिसमें शरीर, मन, बुद्धि तथा अपने पास में जो भी हो वह सम्मिलित है।

भक्ति की इन नौ विधियों को निष्ठापूर्वक सम्पन्न करने को भक्ति कहते हैं। अद्धा का अर्थ है “सीधे, प्रत्यक्षतः”। मनुष्य को कर्मियों की तरह नहीं होना चाहिए जो पुण्यकर्म करने के बाद कृष्ण को उनके फल औपचारिक रूप में अर्पित करते हैं। यह तो कर्मकाण्ड है। मनुष्य को अपने पुण्यकर्मों के फल की आकांक्षा नहीं करनी चाहिए, अपितु पूर्णतया समर्पित होकर पुण्यकर्म करना चाहिए। दूसरे शब्दों में, मनुष्य को भगवान् विष्णु की तुष्टि के लिए कर्म करना चाहिए न कि अपनी इन्द्रियों की तुष्टि के लिए। यही अर्थ है अद्धा शब्द का।

*अन्याभिलाषिताशून्यं ज्ञानकर्माद्यनावृतम् ।*

*आनुकूल्येन कृष्णानुशीलनं भक्तिरुत्तमा ।*

“मनुष्य को चाहिए कि भौतिक लाभ के लिए सकाम कर्मों के द्वारा या दार्शनिक चिन्तन के द्वारा भौतिक लाभ की इच्छा किये बिना तथा अनुकूल होकर कृष्ण की दिव्य प्रेमाभक्ति करे।” ज्ञान या कर्म से अप्रभावित रहकर कृष्ण को तुष्ट करना चाहिए।

गोपालतापनी उपनिषद् के अनुसार भक्ति का अर्थ है केवल भगवान् की भक्ति, अन्य किसी की नहीं। उपनिषद् के अनुसार भक्ति भगवान् की भक्तिमयी सेवा है। भक्ति करने के लिए मनुष्य को

देहात्म-बुद्धि से तथा स्वर्गलोक जाकर सुखी रहने की आकांक्षा से मुक्त होना चाहिए। दूसरे शब्दों में, किसी भौतिक लाभ के लिए किसी प्रकार की इच्छा से रहित होकर परमेश्वर की तुष्टि के लिए ही किया गया कर्म भक्ति कहलाता है। भक्ति को निष्कर्म अर्थात् सकाम कर्म के फलों से मुक्ति भी कहते हैं। भक्ति तथा निष्कर्म समान पद पर होते हैं यद्यपि भक्ति तथा सकाम कर्म एक जैसे प्रतीत होते हैं।

प्रह्लाद महाराज ने जिन नौ विभिन्न विधियों का प्रतिपादन किया है और जिन्हें उन्होंने नारद मुनि से सीखा था, हो सकता है कि भक्ति के लिए उन सबों की आवश्यकता न पड़े। यदि कोई भक्त अविचल भाव से इनमें से एक का भी पालन करता है, तो उसे भगवान् की कृपा प्राप्त हो सकती है। कभी-कभी यह पाया जाता है कि जब कोई किसी एक विधि का पालन करता होता है, तो उसमें अन्य विधियाँ मिली होती हैं। भक्त के लिए यह अनुचित नहीं है। जब भक्त नौ विधियों ( *नवलक्षणा* ) में से किसी एक को सम्पन्न करता है, तो वही पर्याप्त होती है, अन्य आठ उसी में निहित रहती हैं। अब हम इन नवों विधियों की विवेचना करेंगे।

(१) *श्रवणम्*—भगवान् के पवित्र नाम को सुनना ( *श्रवणम्* ) भक्ति का शुभारम्भ है। यद्यपि नवों विधियों में से कोई भी एक विधि पर्याप्त होती है, किन्तु क्रमानुसार भगवान् के पवित्र नाम का श्रवण ही भक्ति का प्रारम्भ है। निस्सन्देह, यह अनिवार्य है। जैसाकि भगवान् श्री चैतन्य महाप्रभु ने प्रतिपादित किया है— *चेतोदर्पणमार्जनम्*—भगवान् का नामकीर्तन करने से मनुष्य उस देहात्मबुद्धि से छुटकारा पा जाता है, जो कि प्रकृति के मलिन गुणों के कारण उत्पन्न होती है। जब मनुष्य के हृदय से मैल हट जाता है, तो वह भगवान् सच्चिदानन्द को समझ सकता है— *ईश्वरः परमः कृष्णः सच्चिदानन्दविग्रहः।* इस तरह भगवान् के पवित्र नामों का श्रवण करने से मनुष्य भगवान् के साकार रूप को समझने की स्थिति में होता है। भगवान् के स्वरूप की अनुभूति करने के बाद वह भगवान् के दिव्य गुणों को समझ सकता है और दिव्य गुणों को समझ लेने के बाद भगवान् के पार्षदों को समझ सकता है। इस प्रकार वह भगवान् के नाम, दिव्य रूप तथा गुण, उनके पार्षद तथा उनसे सम्बद्ध प्रत्येक वस्तु की अनुभूति कर लेने के बाद भगवान् को पूरी तरह समझने की दिशा में अग्रसर होता जाता है। अतएव क्रमवार विधि है *श्रवणं कीर्तनं विष्णोः।* यही क्रम कीर्तन तथा स्मरण में मिलता है। जब किसी शुद्ध भक्त के मुख से भगवान् के पवित्र नाम, रूप, गुण तथा पार्षद का कीर्तन सुन पड़ता है, तो उसके श्रवण तथा

कीर्तन अत्यन्त सुहावने लगते हैं। श्रील सनातन गोस्वामी ने बनावटी भक्त या अभक्त के मुख से कीर्तन सुनने के लिए मना किया है।

*श्रीमद्भागवत* के पाठ को सुनना सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण श्रवण विधि मानी गई है। *श्रीमद्भागवत* पवित्र नाम के दिव्य कीर्तन से पूर्ण है और *श्रीमद्भागवत* का कीर्तन तथा श्रवण दिव्य रसों से ओत-प्रोत है। भगवान् के दिव्य पवित्र नाम को भक्त की रुचि के अनुसार सुना तथा जपा जा सकता है। कोई चाहे तो कृष्ण के पवित्र नाम का कीर्तन करे या भगवान् राम या नृसिंहदेव के नाम का कीर्तन करे ( *रामादिमूर्तिषु कलानियमेन तिष्ठन्* )। भगवान् के असंख्य नाम तथा रूप हैं अतएव भक्त किसी भी रूप का ध्यान कर सकता है और अपनी रुचि के अनुसार पवित्र नाम का कीर्तन कर सकता है। सबसे अच्छा मार्ग तो यह होगा कि अपने ही स्तर के शुद्ध भक्त से पवित्र नाम, रूप इत्यादि का श्रवण किया जाये। दूसरे शब्दों में, जो कृष्ण के प्रति अनुरक्त है उसे कीर्तन करना चाहिए और उन अन्य शुद्ध भक्तों से श्रवण करना चाहिए जो कृष्ण के प्रति ही अनुरक्त हैं। यही सिद्धान्त उन भक्तों पर लागू होता है, जो भगवान् राम, नृसिंह तथा अन्य भगवान् रूपों द्वारा आकृष्ट होते हैं। चूँकि कृष्ण भगवान् के परम रूप हैं ( *कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्* ), अच्छा यही होगा कि ऐसे सिद्ध भक्त से भगवान् कृष्ण के नाम, रूप तथा लीलाओं के विषय में सुना जाये जो भगवान् कृष्ण के रूप द्वारा विशेष अनुरक्त हो। *श्रीमद्भागवत* में शुकदेव गोस्वामी जैसे महान् भक्तों ने भगवान् कृष्ण के नाम, रूप तथा गुणों का विशेष रूप से वर्णन किया है। भगवान् के नाम, रूप तथा गुणों के विषय में सुने बिना भक्ति की अन्य विधियों को ठीक से नहीं समझा जा सकता। अतएव चैतन्य महाप्रभु संस्तुति करते हैं कि मनुष्य कृष्ण नाम का कीर्तन करे। *परं विजयते श्रीकृष्ण सङ्कीर्तनम्*। यदि कोई इतना भाग्यशाली हो कि उसे सिद्ध भक्तों के मुख से सुनने का अवसर प्राप्त हो तो वह भक्ति के मार्ग पर अत्यन्त सफल हो सकता है। अतएव भगवान् के नाम, रूप तथा गुणों का श्रवण अनिवार्य है।

*श्रीमद्भागवत* ( १.५.११ ) में एक श्लोक है—

*तद्वाग्विसर्गो जनताघविप्लवो*

*यस्मिन् प्रतिश्लोकमबद्धवत्यपि ॥*

*नामान्यनन्तस्य यशोऽङ्कितानि यत्*

*शृण्वन्ति गायन्ति गृणन्ति साधवः ॥*

“अनन्त देव के नाम, रूप तथा गुणों का वर्णन करने वाले श्लोक समस्त जगत के समस्त पाप फलों को दूर करने में समर्थ हैं। अतएव यदि ऐसे श्लोक ठीक से न भी रचे गये हों तो भी भक्त उन्हें सुनते हैं, उनका वर्णन करते हैं और उन्हें प्रामाणिक मानते हैं। इस सम्बन्ध में श्रीधर स्वामी की टिप्पणी है कि शुद्ध भक्त दूसरे भक्त से भगवान् के नाम, रूप तथा गुणों का श्रवण करके लाभ उठाता है। यदि ऐसा अवसर न प्राप्त हो तो वह अकेले ही भगवान् के पवित्र नाम का कीर्तन एवं श्रवण करता है।

(२) *कीर्तनम्*—नाम के श्रवण का वर्णन ऊपर किया गया है। अब पवित्र नाम के कीर्तन को समझने का प्रयास किया जाये जो उसी क्रम में दूसरे स्थान पर है। ऐसी संस्तुति है कि कीर्तन उच्च स्वर से किया जाये। *श्रीमद्भागवत* में नारद मुनि कहते हैं कि उन्होंने बिना किसी लज्जा के भगवान् के नाम का कीर्तन करते हुए विश्व का भ्रमण प्रारम्भ किया। इसी प्रकार श्री चैतन्य महाप्रभु ने उपदेश दिया है—

*तृणादपि सुनीचेन तरोरपि सहिष्णुना ।*

*अमानिना मानदेन कीर्तनीयः सदा हरिः ॥*

भक्त को चाहिए कि घास से भी अधिक विनम्र होकर, वृक्ष की भाँति सहिष्णु होकर तथा हर एक को नमस्कार करते हुए, किसी से आदर की इच्छा न रखते हुए, शान्तिपूर्वक भगवान् के पवित्र नाम का कीर्तन करे। ऐसी योग्यताएँ भगवान् के नाम का कीर्तन करना सुगम बना देती हैं। कोई भी व्यक्ति दिव्य कीर्तन की विधि को सरलता से सम्पन्न कर सकता है। यहाँ तक कि जो शरीर से अक्षम है, अन्यो की तुलना में नीच है, भौतिक योग्यताओं से रहित है या जिसने पुण्यकर्म नहीं किये हैं, उसके लिए भी पवित्र नाम का कीर्तन लाभप्रद है। आध्यात्मिक जीवन में उन्नति के लिए उच्च कुल में जन्म, उच्च शिक्षा, सुन्दर शरीर, धन तथा पुण्यकर्मों के फल व्यर्थ हैं, क्योंकि एकमात्र पवित्र नाम के कीर्तन द्वारा मनुष्य प्रगति कर सकता है। वैदिक साहित्य के प्रामाणिक स्रोत से यह ज्ञात है कि विशेष रूप से इस कलियुग में लोग अल्पायु हैं, उनके स्वभाव अत्यन्त बुरे हैं और वे अप्रामाणिक भक्ति की विधियों को स्वीकार करने के लिए तैयार रहते हैं। यही नहीं, वे भौतिक दशाओं द्वारा सदैव उद्विग्न रहते हैं और परम अभागे हैं। ऐसी परिस्थिति में *यज्ञ, दान, तप* तथा *क्रिया* जैसी अन्य विधियों को सम्पन्न कर पाना सम्भव नहीं हो पाता। अतएव संस्तुति की गई है—

हरेर्नाम हरेर्नाम हरेर्नामैव केवलम् ।

कलौ नास्त्येव नास्त्येव नास्त्येव गतिरन्यथा ॥

“इस कलह तथा कपट के युग में उद्धार का एकमात्र साधन भगवान् के नाम का कीर्तन है। कोई अन्य उपाय नहीं है, कोई अन्य उपाय नहीं है, कोई अन्य उपाय नहीं है।” भगवान् के पवित्र नाम के कीर्तन मात्र से मनुष्य आध्यात्मिक जीवन में प्रगति करता है। जीवन की सफलता के लिए यह सर्वोत्तम विधि है। अन्य युगों में भी नाम कीर्तन समान रूप से शक्तिशाली होता है किन्तु इस कलियुग में यह विशेष रूप से शक्तिशाली है। *कीर्तनाद् एव कृष्णस्य मुक्तसङ्गः परं ब्रजेत्।* केवल कृष्ण के पवित्र नाम-कीर्तन से मनुष्य मुक्त हो जाता है और भगवद्धाम को जाता है। अतएव यदि कोई व्यक्ति भक्ति की अन्य विधियाँ अपनाता है, तो उसे पवित्र नाम के कीर्तन को आध्यात्मिक जीवन में अग्रसर होने की प्रमुख विधि के रूप में ग्रहण करना चाहिए। *यज्ञैः सङ्कीर्तन-प्रायैर्यजन्ति हि सुमेधसः—* जो अत्यन्त तीक्ष्ण बुद्धि वाले हैं उन्हें भगवान् के पवित्र नाम कीर्तन की यह विधि ग्रहण करनी चाहिए। किन्तु उन्हें विभिन्न प्रकार के कीर्तन निर्मित नहीं करने चाहिए। शास्त्रों में संस्तुत पवित्र नाम के कीर्तन—हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे। हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे। पर गम्भीरतापूर्वक स्थिर रहना चाहिए।

भगवान् के पवित्र नाम का कीर्तन करते हुए दस अपराधों से बचना चाहिए। सनत्कुमार से पता चलता है कि यदि कोई अनेक प्रकार से घोर अपराधी भी हो तो भगवान् के पवित्र नाम की शरण ग्रहण करने पर वह अपराधी जीवन से मुक्त हो जाता है। यद्यपि मनुष्य दो पैर वाले पशु से श्रेष्ठ नहीं है, तो भी वह यदि भगवन्नाम की शरण ग्रहण करता है, तो मुक्त हो जाएगा। अतएव मनुष्य को अत्यन्त सतर्क रहना चाहिए कि भगवन्नाम के चरणकमलों पर अपराध न होने दे। ये अपराध इस प्रकार हैं— (अ) उस भक्त की निन्दा करना, जो भगवान् के नाम की महिमा के प्रचार में लगा हो (आ) शिवजी या किसी अन्य देवता के नाम को भगवान् के नाम के समान शक्तिशाली समझना (न तो कोई भगवान् के समान है न उनसे बढ़कर) (इ) गुरु की आज्ञा का पालन न करना, (ई) वैदिक ग्रंथों या उनके अनुसरण पर लिखे गये ग्रंथों की निन्दा करना, (उ) यह टीका करना कि भगवान् के नाम की महिमा बढ़ा-चढ़ाकर कही जाती है, (ऊ) पवित्र नाम की व्याख्या भिन्न प्रकार से करना, (ए) पवित्र नाम के

कीर्तन के बल पर पापकर्म करना, (ऐ) पवित्र नाम के कीर्तन की तुलना पुण्यकर्मों से करना, (ओ) ऐसे व्यक्ति को भगवन्नाम कीर्तन की महिमा का उपदेश देना जिसे ऐसे कीर्तन का कोई ज्ञान न हो, (औ) सारे शास्त्रों के आदेशों को सुनकर भी पवित्र कीर्तन के प्रति दिव्य अनुराग उत्पन्न न होना।

इन अपराधों के शमन का कोई उपाय नहीं है। अतएव यह संस्तुति की जाती है कि पवित्र नाम के चरणों पर अपराधी चौबीसों घण्टे नाम कीर्तन करे। पवित्र नाम के निरन्तर कीर्तन से मनुष्य अपराधों से मुक्त होगा और धीरे-धीरे उस दिव्य पद को प्राप्त होगा जहाँ वह शुद्ध नामकीर्तन कर सकता है और इस तरह भगवान् का प्रेमी बन सकता है।

यह संस्तुति की जाती है कि यदि कोई अपराध करे भी तो उसे पवित्र नाम का कीर्तन करते रहना चाहिए। दूसरे शब्दों में, पवित्र नाम का कीर्तन मनुष्य को अपराधरहित बनाता है। *नाम कौमुदी* पुस्तक में आदेश है कि यदि कोई किसी वैष्णव के चरणकमलों के प्रति अपराधी है, तो उसे चाहिए कि उस वैष्णव को आत्म-समर्पण कर दे और क्षमा प्राप्त कर ले। इसी प्रकार यदि कोई पवित्र नामकीर्तन के प्रति अपराधी है, तो वह पवित्र नाम को आत्म-समर्पण करके अपने अपराधों से मुक्त हो ले। इस सम्बन्ध में दक्ष ने शिवजी से जो कुछ कहा था वह इस प्रकार है—“मैं आपकी महिमा से परिचित न था, अतएव भरी सभा में मैंने आपके चरणकमलों पर अपराध किया, किन्तु आप इतने कृपालु हैं कि आपने मेरे अपराध को नहीं माना। उल्टे जब मैं आप पर दोषारोपण के फलस्वरूप नीचे गिर रहा था तो आपने अपनी कृपामय चितवन से मुझे बचा लिया। आप अत्यन्त महान् हैं। कृपया मुझे क्षमा कर दें और अपने उच्च गुणों से तुष्ट हों।”

मनुष्य को चाहिए कि वह अपनी इच्छाएँ अर्पित करने के लिए अत्यन्त विनीत हो और पवित्र नाम की महिमा में रची गई स्तुतियों का उच्चारण करे, यथा *अयि मुक्तकुलैरुपास्य मानम् तथा निवृत्ततर्षैरुपगीयमानाद्*। भगवान् के चरणकमलों पर किये गये अपराधों से मुक्त होने के लिए ऐसी प्रार्थनाएँ करनी चाहिए।

(३) *स्मरणम्*—श्रवण तथा कीर्तन विधियों को नियमित रूप से सम्पन्न करने तथा अपने अंतःकरण को शुद्ध करने के बाद *स्मरणम्* की संस्तुति की जाती है। *श्रीमद्भागवत* (२.१.११) में शुकदेव गोस्वामी राजा परीक्षित को बतलाते हैं—



एतन्निर्विद्यमानानाम् इच्छताम् अकुतोभयम् ।

योगिनां नृप निर्णीतं हरेर्नामानुकीर्तनम् ॥

“हे राजन्! जिन महान् योगियों ने सारे भौतिक सम्बन्धों का पूर्ण परित्याग कर दिया है, जिन्हें सारे भौतिक भोग चाहिए तथा जो दिव्य ज्ञान के कारण आत्मसन्तुष्ट हैं उनके लिए भगवान् के पवित्र नाम के सतत कीर्तन की संस्तुति की जाती है।” भगवान् के साथ विभिन्न सम्बन्धों के अनुसार *नामानुकीर्तनम्* अर्थात् भगवान् के पवित्र नाम के कीर्तन के अनेक भेद हैं अतएव विभिन्न सम्बन्धों एवं रसों के अनुसार स्मरण के पाँच प्रकार हैं। ये इस प्रकार हैं—(१) भगवान् के किसी विशेष रूप की पूजा के विषय में शोध करना, (२) किसी एक विषय पर मन को एकाग्र करना तथा अन्य सारे विषयों के सोचने, अनुभव करने तथा चाहने जैसे मन के कार्यों से विलग होना, (३) भगवान् के किसी विशेष रूप पर एकाग्र होना (यह ध्यान कहलाता है) (४) भगवान् के रूप पर मन को निरन्तर एकाग्र रखना (यह ध्रुवानुस्मृति या पूर्ण ध्यान कहलाता है) तथा (५) किसी विशेष रूप पर एकाग्रता के लिए रुचि उत्पन्न करना (यह समाधि कहलाती है)। किसी विशेष परिस्थिति में भगवान् की किसी विशेष लीला पर चित्त की एकाग्रता स्मरण भी कहलाती है। अतएव सम्बन्ध के अनुसार समाधि पाँच प्रकार से सम्भव है। विशेषतया उदासीन अवस्था में भक्तों की समाधि मानसिक (चित्त) एकाग्रता कहलाती है।

(४) *पाद-सेवनम्*—मनुष्य की रुचि तथा शक्ति के अनुसार श्रवण, कीर्तन तथा स्मरण के बाद *पादसेवनम्* की बारी आती है। मनुष्य को स्मरण की सिद्धि तभी मिलती है जब वह निरन्तर भगवान् के चरणकमलों का चिन्तन करता है। भगवान् के चरणकमलों के चिन्तन में गहन आसक्ति होने को *पादसेवनम्* कहते हैं। जब कोई *पादसेवनम्* में विशेष रूप से अविचल रहता है, तो इस विधि से अन्य विधियाँ भी मिलती रहती हैं—यथा भगवान् के स्वरूप का दर्शन, भगवान् के स्वरूप का स्पर्श, भगवान् के रूप या मन्दिर की परिक्रमा, भगवान् के रूप के दर्शन के लिए जगन्नाथ पुरी, द्वारका तथा मथुरा जैसे स्थानों का भ्रमण तथा गंगास्नान या यमुनास्नान। गंगास्नान तथा शुद्ध वैष्णव की सेवा भी *तदीय उपासनम्* कहलाते हैं। ये भी *पादसेवनम्* हैं। *तदीय* शब्द का अर्थ है भगवान् विषयक। वैष्णव की सेवा, तुलसी, गंगा तथा यमुना *पादसेवनम्* में सम्मिलित हैं। *पादसेवनम्* की ये सारी विधियाँ मनुष्य को आध्यात्मिक जीवन में तेजी से प्रगति करने में सहायता करती हैं।

(५) *अर्चनम्*—पादसेवनम् के बाद *अर्चनम्* अर्थात् देव की पूजा की बारी आती है। यदि कोई सचमुच *अर्चनम्* विधि में रुचि रखता है, तो उसे अवश्य ही प्रामाणिक गुरु की शरण ग्रहण करके इस विधि को सीखना चाहिए। *अर्चनम्* के लिए अनेक पुस्तकें हैं जिसमें से *नारद पञ्चरात्र* विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इस युग में अर्चन के लिए पञ्चरात्र पद्धति की विशेष रूप से संस्तुति की जाती है। अर्चन की दो पद्धतियाँ हैं— *भागवत* पद्धति तथा *पाञ्चरात्रिकी* पद्धति। *श्रीमद्भागवत* में पाञ्चरात्रिकी पूजा (अर्चन) की कोई संस्तुति नहीं है, क्योंकि इस कलियुग में देव पूजा के बिना भी केवल श्रवण, कीर्तन, स्मरण तथा पादसेवनम् से सब कुछ पूरी तरह सम्पन्न हो सकता है। रूप गोस्वामी का कथन है—

*श्री विष्णोः श्रवणे परीक्षिदभवद् वैयासकिः कीर्तने*

*प्रह्लादः स्मरणे तदङ्गभजने लक्ष्मीः पृथुः पूजने ।*

*अक्रूरस्त्वभिवन्दने कपिपतिर्दास्येऽस्थ सख्येऽर्जुनः*

*सर्वस्वात्मनिवेदने बलिर्भूत् कृष्णाप्तिरेषां परम् ॥*

“परीक्षित महाराज ने केवल श्रवण से और शुकदेव गोस्वामी ने केवल कीर्तन से मोक्ष प्राप्त किया। प्रह्लाद महाराज ने भगवान् के स्मरण से मोक्ष प्राप्त किया। धन की देवी लक्ष्मी ने भगवान् के चरणकमलों की पूजा (पादसेवनम्) करके सिद्धि प्राप्त की। पृथु महाराज ने भगवान् के अर्चाविग्रह की पूजा (अर्चनम्) करके मोक्ष प्राप्त किया। अक्रूर ने वन्दना करके, हनुमान ने सेवा करके, अर्जुन ने भगवान् से मैत्री स्थापित करके तथा बलि महाराज ने भगवान् की सेवा में सर्वस्व अर्पित करके मोक्ष प्राप्त किया।” इन सब महान् भक्तों ने विशेष विधियों के द्वारा भगवान् की सेवा की किन्तु इन सबों को मोक्ष मिला और ये भगवद्धाम वापस जाने के भागी हुए। *श्रीमद्भागवत* में इसकी व्याख्या की गई है।

अतएव यह संस्तुति की जाती है कि दीक्षित भक्त मन्दिर में अर्चा विग्रह की पूजा करके *नारद पञ्चरात्र* के नियमों का पालन करें। ऐसे गृहस्थ भक्त जिनके पास प्रचुर भौतिक सम्पत्ति है उनके लिए देव-अर्चन विधि की प्रबल संस्तुति की जाती है। जो ऐश्वर्यवान् गृहस्थ भक्त अपनी कठिन कमाई की पूँजी भगवान् की सेवा में नहीं लगाता वह कंजूस कहलाता है। मनुष्य को चाहिए कि देव अर्चन के लिए वेतनभोगी ब्राह्मण न लगाए। यदि कोई स्वयं अर्चन न करके वेतनभोगी नौकर लगाता है, तो वह

आलसी माना जाता है और उसकी देवपूजा कृत्रिम मानी जाती है। ऐश्वर्यवान् गृहस्थ अर्चा-विग्रह की पूजा के लिए उच्चकोटि की सामग्री जुटा सकता है और फलस्वरूप उसके लिए देवपूजा अनिवार्य है। हमारे कृष्णभावनामृत आन्दोलन में ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ तथा संन्यासी होते हैं, किन्तु मन्दिर में देवपूजा का कार्य विशेष रूप से गृहस्थों द्वारा सम्पन्न किया जाना चाहिए। ब्रह्मचारीगण संन्यासियों के साथ प्रचार कार्य के लिए जा सकते हैं और वानप्रस्थों को अपने अगले आश्रम, संन्यास, की तैयारी करते रहना चाहिए। किन्तु गृहस्थ भक्त सामान्यतया भौतिक कार्यकलापों में संलग्न रहते हैं, अतएव यदि वे देवपूजा नहीं करते तो उनका पतन निश्चित है। देवपूजा का अर्थ है विधि-विधानों का सही सही पालन करना। इससे मनुष्य भक्ति में स्थिर रह सकेंगे। सामान्यतया गृहस्थ के बच्चे होते हैं और तब गृहस्थ की पत्नियों को अपने बच्चों के पालन-पोषण में उसी तरह व्यस्त रहना चाहिए जिस तरह नर्सरी स्कूल में बच्चों की देखरेख के लिए अध्यापिकाएँ होती हैं।

गृहस्थ भक्तों को चाहिए कि वे गुरु द्वारा दिये गये आदेशों तथा उपयुक्त प्रबन्धों द्वारा *अर्चन विधि* या देवपूजन करें। जो लोग मन्दिर में अर्चन नहीं कर सकते उनके लिए *अग्नि पुराण* का यह कथन है—यदि कोई गृहस्थ भक्त परिस्थितिवश अर्चन नहीं कर सकता तो उसे चाहिए कि कम से कम अर्चन होते देखे और इस तरह वह भी सफलता प्राप्त करे। अर्चन का विशेष प्रयोजन अपने आपको शुद्ध तथा स्वच्छ रखना है। गृहस्थ भक्तों को स्वच्छता का आदर्श प्रस्तुत करना चाहिए।

अर्चन को श्रवण तथा कीर्तन के साथ-साथ करते रहना चाहिए। अतएव प्रत्येक मंत्र के पूर्व *नमः* शब्द आता है। सभी मंत्रों में विशिष्ट शक्तियाँ होती हैं जिनका लाभ गृहस्थों को उठाना चाहिए। ऐसे अनेक मंत्र हैं जिनके पूर्व *नमः* शब्द आता है, किन्तु यदि कोई भगवान् के पवित्र नाम का उच्चारण करता है, तो वह *नमः* के कई बार उच्चारण करने का फल पाता है। भगवान् के नामोच्चारण से भगवत्प्रेम के पद तक पहुँचा जा सकता है। इस पर कोई यह प्रश्न कर सकता है—तो फिर दीक्षित होने की क्या आवश्यकता है? इसका उत्तर यही है कि यद्यपि पवित्र नामोच्चारण से आध्यात्मिक जीवन में प्रगति होती है, जिससे भगवत्प्रेम का पद प्राप्त किया जा सकता है किन्तु भौतिक शरीर होने से मनुष्य भी कल्मषग्रस्त हो सकता है। फलस्वरूप *अर्चन विधि* पर विशेष बल दिया जाता है। अतएव मनुष्य को चाहिए कि *भागवत* विधि तथा *पाञ्चरात्रिकी* विधि इन दोनों का ही लाभ उठाए।

अर्चन के दो विभाग हैं—शुद्ध एवं सकाम कर्मों से मिश्रित। जो स्थिर है उसके लिए अर्चन अनिवार्य है। इसी अर्चन विधि के अन्तर्गत श्री जन्माष्टमी, रामनवमी तथा नृसिंह चतुर्दशी जैसे नाना प्रकार के उत्सवों का मनाना सम्मिलित है। दूसरे शब्दों में, गृहस्थ के लिए इन उत्सवों को मनाना आवश्यक है।

अब हम अर्चन में होने वाले अपराधों की विवेचना करेंगे। ये अपराध हैं—(१) जूते पहनकर या पालकी में चढ़कर मन्दिर के भीतर जाना, (२) मान्य उत्सवों को न मनना, (३) देवों को नमस्कार करने से कतराना, (४) खाने के बाद हाथ धोये बिना अशुद्ध अवस्था में ही प्रार्थना करना, (५) एक हाथ से नमस्कार करना, (६) देव के समक्ष परिक्रमा करना, (७) देव के सामने पाँव पसारना, (८) एक हाथ से पाँव का टखना पकड़ कर देव के समक्ष बैठना, (९) देव के समक्ष लेटना, (१०) देव के समक्ष भोजन करना, (११) देव के समक्ष झूठ बोलना, (१२) देव के समक्ष किसी को जोर से पुकारना, (१३) देव के समक्ष अनर्गल बातें करना, (१४) देव के समक्ष किसी पर चिल्लाना, (१५) देव के समक्ष वाद-विवाद करना, (१६) देव के समक्ष किसी को दंड देना, (१७) देव के समक्ष ऊनी कम्बल ओढ़ना, (१८) देव के समक्ष कपट-वचन कहना, (१९) देव के समक्ष किसी का पक्ष लेना, (२०) देव के समक्ष किसी की निन्दा करना, (२१) देव के समक्ष किसी को पूजना, (२२) देव के समक्ष अश्लील भाषा का प्रयोग करना, (२३) देव के समक्ष अपान वायु निकालना, (२४) समर्थ होते हुए भी ठाटबाट से देव की पूजा करने से कतराना, (२५) देवता को चढ़ाये बिना कोई वस्तु खाना, (२६) ऋतु के अनुसार देव पर ताजे फल न चढ़ाना, (२७) देव को उच्छिष्ट भोजन या किसी अन्य को दिया गया पदार्थ अर्पित करना, (२८) देव की ओर पीठ फेर कर बैठना, (२९) देव के समक्ष अन्य किसी को नमस्कार करना, (३०) गुरु को नमस्कार करते हुए समुचित स्तुति का उच्चारण न करना, (३१) देव के समक्ष आत्म-प्रशंसा करना, (३२) देवताओं की निन्दा करना। अर्चना विधि या देव पूजन में इन बत्तीस अपराधों से बचना चाहिए।

*वराह पुराण* में निम्नलिखित अपराधों का उल्लेख हुआ है—(१) किसी धनी व्यक्ति के घर भोजन करना, (२) अँधेरे में देव के समक्ष कक्ष में प्रवेश करना, (३) विधि-विधानों का पालन न करते हुए देव की पूजा करना, (४) बिना शब्दोच्चारण किये मन्दिर में प्रवेश करना, (५) कुत्ते द्वारा देखा गया

भोग एकत्र करना, (६) देवपूजा करते समय मौन भंग करना, (७) देव पूजा के बीच शौचादि के लिए जाना, (८) बिना पुष्प अर्पित किये अगुरु चढ़ाना, (९) वर्जित फूलों से अर्चना करना, (१०) दाँत साफ किये बिना पूजा करना, (११) मैथुन के बाद पूजा करना, (१२) दीपक, शव या रजस्वला स्त्री को स्पर्श करना या लाल, नीले कपड़े पहनना या बिना धुले या किसी के पहने, अथवा गन्दे कपड़े धारण करना। अन्य अपराधों में शव को देखने के बाद अर्चन करना, देव के समक्ष अपान वायु निकालना, देव के समक्ष क्रोध करना और श्मशान घाट से लौटकर तुरन्त देव पूजन करना सम्मिलित हैं। खाने के बाद जब तक भोजन पच न जाये तब तक न तो देव की पूजा करनी चाहिए, न देव का स्पर्श करना चाहिए, न कुसुम्भ तेल तथा हींग खाने के बाद देव पूजन करना चाहिए। ये भी अपराध हैं।

अन्य निम्नलिखित अपराधों की सूची मिलती है—(१) वैदिक साहित्य के शास्त्रीय आदेशों के विरुद्ध होना अथवा हृदय से *श्रीमद्भागवत* का अनादर करना और ऊपर से झूठे ही इसके सिद्धान्तों को मानना, (२) शास्त्रों से असहमति व्यक्त करने का प्रचार करना, (३) देव के समक्ष पान चबाना, (४) रेंड के पत्ते पर पूजा के लिए फूल रखना, (५) दोपहर के बाद देव पूजन करना, (६) वेदी पर या फर्श पर बैठकर (बिना आसन के) देव पूजन करना, (७) देव को स्नान कराते समय बाएँ हाथ से उनका स्पर्श करना, (८) देव पर बासी या चढ़ाये हुए फूल चढ़ाना, (९) देव पूजन के समय थूकना, (१०) देव पूजन के समय अपने वैभव का विज्ञापन करना, (११) मस्तक पर टेढ़ा तिलक लगाना, (१२) बिना पाँव धोये मन्दिर में प्रवेश करना, (१३) अदीक्षित व्यक्ति द्वारा पकाये गये भोजन को देव पर चढ़ाना, (१४) अदीक्षित व्यक्ति या अवैष्णव के समक्ष देव पूजा करना तथा देव को भोग लगाना, (१५) गणेश आदि वैकुण्ठ देवों को पूजे बिना देव का पूजन करना, (१६) पसीने से लथपथ होकर पूजा करना, (१७) देव पर चढ़े फूलों को लेने से इनकार करना, (१८) भगवान् के पवित्र नाम की शपथ लेना।

यदि कोई इन अपराधों में से एक भी अपराध करता है, तो उसे *भगवद्गीता* का कम से कम एक अध्याय पढ़ना चाहिए। इसकी पुष्टि *स्कन्द पुराण* के अवन्ती खण्ड में की गई है। इसी प्रकार एक अन्य आदेश है कि जो विष्णु सहस्र नाम का पाठ करता है, वह सभी अपराधों से मुक्त किया जा सकता है। उसी *स्कन्द पुराण* के रेवा खण्ड में कहा गया है कि जो तुलसी की स्तुति करता है या तुलसी का बीज

बोता है, वह भी सारे अपराधों से छूट जाता है। इसी प्रकार जो *शालिग्राम* शिला को पूजता है, वह भी सारे अपराधों से छूट जाता है। *ब्रह्माण्ड पुराण* में कहा गया है कि जो शंख, चक्र, गदा तथा पद्म धारण करने वाले चतुर्भुज विष्णु भगवान् की पूजा करता है, वह उपर्युक्त समस्त अपराधों से मुक्त हो जाता है। *आदि वराह पुराण* में कहा गया है कि पुजारी जिसने अपराध किया है उसे साँकरना नामक धाम में एक दिन का उपवास व गंगा में स्नान करना चाहिए। अर्चाविग्रह के पूजन के क्रम कभी कभी कोई मन में पूजा करता है। “सारे व्यक्ति मन से पूजा कर सकते हैं।” *गौतमीय तन्त्र* का कहना है “गृहविहीन संन्यासी के लिए मन के भीतर देव की अर्चना की संस्तुति की जाती है।” *नारद पंचरात्र* में भगवान् नारायण ने कहा है कि मन के भीतर देव पूजा *मानस पूजा* कहलाती है। इस विधि से मनुष्य चारों कष्टों से मुक्त हो सकता है। कभी-कभी स्वतंत्र रूप से मन द्वारा पूजा की जा सकती है। श्रीमद् भागवद् के कथनानुसार, नव योगेन्द्रों में से एक आविर्होत्र मुनि के आदेशानुसार सारे मंत्रों का उच्चारण करके देव पूजा की जा सकती है। शास्त्रों में आठ प्रकार के देवों का उल्लेख है और “मानस” देव उनमें से एक है। इस प्रसंग में *ब्रह्मवैवर्त पुराण* का निम्नलिखित वर्णन दिया जा रहा है।

बहुत पहले प्रतिष्ठानपुर में एक ब्राह्मण रहता था, जो अत्यन्त गरीब किन्तु अबोध था पर वह असन्तुष्ट नहीं था। एक दिन ब्राह्मणों की एक सभा में उसने एक वार्तलाप सुना जो मन्दिर में देव पूजन के विषय में था। उसी सभा में उसने यह भी सुना कि देव की पूजा मन से भी की जा सकती है। इस घटना के बाद वह ब्राह्मण गोदावरी नदी में स्नान करके मन में देव पूजन करने लगा। वह अपने मन में ही मन्दिर को धोता और कल्पना द्वारा सोने तथा चाँदी के पात्रों में सभी पवित्र नदियों का जल लाता। उसने पूजा की सारी अमूल्य सामग्री एकत्र कर ली और देव को स्नान कराने से लेकर आरती करने तक देव की अत्यन्त भव्य पूजा की। इस तरह उसे महान् सुख प्राप्त हुआ। जब इस तरह कई वर्ष बीत गये तो उसने अपने मन में देव पूजा के लिए घी से खीर तैयार की। उसने एक सुनहरे पात्र में खीर रखी और भगवान् कृष्ण को भेंट कर दी, लेकिन उसे लगा कि खीर बहुत गरम है, अतएव उसने अपनी उँगली से उसे छू दिया। उसे तुरन्त लगा कि उसकी उँगली गरम खीर से जल गई है, अतएव वह पछताने लगा। जब ब्राह्मण को पीड़ा हो रही थी तो भगवान् विष्णु वैकुण्ठ में हँसने लगे। इस पर लक्ष्मी जी ने पूछा कि आप क्यों हँस रहे हैं। तब विष्णु ने अपने पार्षदों से कहा कि उस ब्राह्मण को वैकुण्ठ में

ले आएँ। इस तरह उस ब्राह्मण को *सामीप्य* मुक्ति प्राप्त हुई।

(६) *वन्दनम्*—यद्यपि देव अर्चन में वन्दना भी सम्मिलित रहती है, लेकिन श्रवण-कीर्तन आदि अन्य विधियों की तरह इसे भी पृथक् माना जा सकता है, इसलिए यहाँ पर पृथक् वर्णन किया जा रहा है। भगवान् के दिव्य गुण तथा ऐश्वर्य असीम हैं और जो कोई विविध कार्यकलापों में भगवान् के गुणों से प्रभावित होता है, वह भगवान् की वन्दना या स्तुति करता है। इस तरह वह सफल बनता है। इस सम्बन्ध में निम्नलिखित अपराधों से बचना चाहिए—(अ) एक हाथ से नमस्कार करना, (आ) अपना शरीर ढके हुए नमस्कार करना, (इ) देव की तरफ पीठ करना, (ई) देव के बाईं ओर से प्रणाम करना तथा (उ) बहुत निकट से देव को प्रणाम करना।

(७) *दास्यम्*—दास के रूप में भगवान् की सहायता करने के विषय में यह कथन पाया जाता है—हजारों जन्मों के बाद जब कोई यह समझ पाता है कि वह कृष्ण का नित्य दास है, तो वह इस ब्रह्माण्ड के अन्य लोगों का उद्धार कर सकता है। यदि कोई व्यक्ति अन्य किसी भक्ति-विधि को किये बिना केवल यह सोचता रहे कि वह कृष्ण का नित्य दास है, तो वह सफलता प्राप्त कर सकता है, क्योंकि केवल इसी भावना से भक्ति की नवों विधियाँ सम्पन्न हो जाती हैं।

(८) *सख्यम्*—मित्र के रूप में भगवान् की पूजा करने के सम्बन्ध में *अगस्त्य संहिता* का कहना है कि *श्रवणम्* तथा *कीर्तनम्* द्वारा भक्ति में लगा भक्त कभी-कभी भगवान् के साक्षात् दर्शन करना चाहता है, अतएव वह मन्दिर में रहने लगता है। अन्यत्र ऐसा कथन प्राप्त होता है “हे भगवान्, परम पुरुष तथा नित्य सखा! यद्यपि आप आनन्द तथा ज्ञान से पूर्ण हैं, तो भी आप वृन्दावनवासियों के सखा बन चुके हैं। ये भक्त कितने भाग्यशाली हैं?” इस कथन में ‘सखा’ शब्द प्रगाढ़ प्रेमसूचक है। इसलिए सख्य दास्य से श्रेष्ठ है। दास्य रस से ऊपर की अवस्था में भक्त भगवान् को सखा (मित्र) रूप में स्वीकार करता है। यह आश्चर्यजनक नहीं है, क्योंकि जब भक्त हृदय से शुद्ध होता है, तो भगवान् के स्वतःस्फूर्त प्रेम के प्रकट होते ही उसका देव अर्चन घट जाता है। इस प्रसंग में श्रीधर स्वामी ने श्रीदामा विप्र का उल्लेख किया है, जिसने अपने मन में कृतज्ञता प्रकट करते हुए सोचा “अच्छा हो कि भगवान् कृष्ण से इस प्रकार सख्य भाव से जन्म-जन्मांतर सम्बन्धित रहूँ।”

(९) *आत्मनिवेदनम्*—जब किसी में भगवान् की सेवा करने के अतिरिक्त कोई इच्छा नहीं रहती

तो वह अपना सर्वस्व भगवान् को अर्पित कर देता है और हर कार्य भगवान् को प्रसन्न करने के लिए करता है। यह अवस्था *आत्मनिवेदनम्* है। ऐसा भक्त उस गाय के तुल्य है, जिसकी रखवाली उसका स्वामी करता है। अपने स्वामी की देख-रेख में गाय को अपने उदर-पूर्ति की कोई चिन्ता नहीं रह जाती। ऐसी गाय अपने स्वामी के प्रति सदैव समर्पित रहती है और कभी भी मनमाना कार्य नहीं करती, केवल स्वामी के लाभ के लिए ही हर कार्य करती है। इसलिए कुछ भक्त भगवान् को शरीर समर्पण करने को *आत्मनिवेदनम्* मानते हैं और जैसाकि *भक्तिविवेक* ग्रंथ में बतलाया गया है, कभी-कभी भगवान् को आत्मा का समर्पण *आत्मनिवेदनम्* कहा जाता है। *आत्मनिवेदनम्* का सर्वश्रेष्ठ उदाहरण बलि महाराज तथा अम्बरीष महाराज का है। द्वारका में रुक्मिणी देवी के आचरण में भी कभी-कभी *आत्मनिवेदनम्* पाया जाता है।

निशम्यैतत्सुतवचो हिरण्यकशिपुस्तदा ।

गुरुपुत्रमुवाचेदं रुषा प्रस्फुरिताधरः ॥ २५ ॥

#### शब्दार्थ

निशम्य—सुनकर; एतत्—यह; सुत-वचः—पुत्र की वाणी; हिरण्यकशिपुः—हिरण्यकशिपु ने; तदा—उस समय; गुरु-पुत्रम्—अपने गुरु शक्राचार्य के पुत्र से; उवाच—कहा; इदम्—यह; रुषा—क्रोध से; प्रस्फुरित—हिलते हुए; अधरः—जिसके होठ।

अपने पुत्र प्रह्लाद के मुख से इन वचनों को सुनकर हिरण्यकशिपु अत्यन्त क्रुद्ध हुआ। उसने

काँपते होठों से अपने गुरु शक्राचार्य के पुत्र षण्ड से इस प्रकार कहा।

ब्रह्मबन्धो किमेतत्ते विपक्षं श्रयतासता ।

असारं ग्राहितो बालो मामनाहत्य दुर्मते ॥ २६ ॥

#### शब्दार्थ

ब्रह्म-बन्धो—हे ब्राह्मण के अयोग्य पुत्र; किम् एतत्—यह क्या है; ते—तुम्हारे द्वारा; विपक्षम्—मेरे शत्रु दल का; श्रयता—आश्रय लेकर; असता—अत्यन्त दुष्ट; असारम्—सारहीन, व्यर्थ; ग्राहितः—पढ़ाया गया; बालः—बालक; माम्—मुझको; अनाहत्य—अनादर करके; दुर्मते—अरे मूर्ख अध्यापक।

अरे ब्राह्मण के अत्यन्त नृशंस ( घृणित ) अयोग्य पुत्र, तुमने मेरे आदेश की अवज्ञा की है

और मेरे शत्रु-पक्ष की शरण ले रखी है। तुमने इस बेचारे बालक को भक्ति का पाठ पढ़ाया है।

यह क्या बकवास है ?

तात्पर्य : इस श्लोक में *असारम्* शब्द का जिस का अर्थ है “सारहीन” महत्त्वपूर्ण। असुर के लिए भक्ति में कोई सार नहीं रहता, किन्तु भक्त के लिए तो भक्ति जीवन का एकमात्र आवश्यक कारक है।



चूँकि हिरण्यकशिपु को जीवन का सार भी पसन्द न थी, अतएव उसने कटु वचन कहकर प्रह्लाद महाराज के अध्यापकों को प्रताड़ित किया।

सन्ति ह्यसाधवो लोके दुर्मैत्राश्छद्मवेषिणः ।

तेषामुदेत्यघं काले रोगः पातकिनामिव ॥ २७ ॥

#### शब्दार्थ

सन्ति—हैं; हि—निस्सन्देह; असाधवः—असाधु मनुष्य; लोके—इस संसार में; दुर्मैत्राः—धोखा देने वाले मित्र; छद्म-वेषिणः—दिखावटी पहनावा पहने; तेषाम्—उन सबों का; उदेति—उदय होता है; अघम्—पापमय जीवन का फल; काले—काल क्रम में; रोगः—रोग; पातकिनाम्—पापी मनुष्यों के; इव—सदृश।

समय के साथ, उन लोगों में अनेक प्रकार के रोग प्रकट होते हैं, जो पापी हैं। इसी प्रकार से इस संसार में छद्मवेष धारण किये हुए जितने धोखेबाज मित्र हैं अन्ततोगत्वा उनके मिथ्या आचरण से उनकी वास्तविकता शत्रुता में प्रकट हो जाती है।

तात्पर्य : अपने पुत्र प्रह्लाद की शिक्षा को लेकर हिरण्यकशिपु अत्यधिक असन्तुष्ट रहता था। जब प्रह्लाद भक्ति के विषय में शिक्षा देने लगे तो हिरण्यकशिपु तुरन्त अध्यापकों को मित्र वेष में अपना शत्रु मानने लगा। इस श्लोक में रोगः पातकिनाम् इव से वह रोग सूचित होता है, जो अत्यन्त पापमय तथा बद्ध जीवन में अत्यन्त कष्टकर होता है ( जन्म-मृत्यु-जरा-व्याधि )। रोग तो पापी व्यक्ति के शरीर का लक्षण है।

स्मृतिशास्त्र का कथन है—

ब्रह्महा क्षयरोगी स्यात् सुरापः श्यावदन्तकः ।

स्वर्णहारी तु कुनखी दुश्कर्मा गुरुतल्पगः ॥

ब्राह्मणों के हत्यारे बाद में क्षय रोग से पीड़ित होते हैं। शराबी लोगों के दाँत झड़ जाते हैं, स्वर्ण चुराने वालों को नाखून के रोग हो जाते हैं और ऐसे कामी पुरुष जो उच्च कुल की स्त्रियों से यौन सम्बन्ध रखते हैं उन्हें कोढ़ तथा इसी प्रकार के चर्म रोग होते हैं।

श्रीगुरुपुत्र उवाच

न मत्प्रणीतं न परप्रणीतं

सुतो वदत्येष तवेन्द्रशत्रो ।

नैसर्गिकीयं मतिरस्य राजन्

नियच्छ मन्युं कददाः स्म मा नः ॥ २८ ॥

शब्दार्थ

श्री-गुरु-पुत्रः उवाच—हिरण्यकशिपु के गुरु शुक्राचार्य के पुत्र ने कहा; न—नहीं; मत्-प्रणीतम्—मेरे द्वारा पढ़ाने से; न—न तो; पर-प्रणीतम्—किसी अन्य द्वारा पढ़ाने से; सुतः—पुत्र ( प्रह्लाद ); वदति—कहता है; एषः—यह; तव—तुम्हारा; इन्द्र-शत्रो—इन्द्र के शत्रु; नैसर्गिकी—प्राकृतिक; इयम्—यह; मतिः—प्रवृत्ति; अस्य—उसकी; राजन्—हे राजा; नियच्छ—त्याग दें; मन्युम्—अपना क्रोध; कत्—दोष; अदाः—लगाइये; स्म—निस्सन्देह; मा—नहीं; नः—हम पर ।

हिरण्यकशिपु के गुरु शुक्राचार्य के पुत्र ने कहा : हे इन्द्र के शत्रु, हे राजन्, आपके प्रह्लाद पुत्र ने जो भी कहा है, वह न तो मेरे द्वारा पढ़ाया गया है, न किसी अन्य के द्वारा। उसमें यह भक्ति स्वतः विकसित हुई है। अतएव आप अपना क्रोध त्याग दें और व्यर्थ ही हमें दोषी न ठहराएँ। एक ब्राह्मण को इस प्रकार अपमानित करना अच्छा नहीं है।

श्रीनारद उवाच

गुरुणैवं प्रतिप्रोक्तो भूय आहासुरः सुतम् ।  
न चेद्गुरुमुखीयं ते कुतोऽभद्रासती मतिः ॥ २९ ॥

शब्दार्थ

श्री-नारदः उवाच—नारद मुनि ने कहा; गुरुणा—अध्यापक द्वारा; एवम्—इस प्रकार; प्रतिप्रोक्तः—उत्तर दिये जाने पर; भूयः—पुनः; आह—कहा; असुरः—महान् दैत्य, हिरण्यकशिपु ने; सुतम्—अपने पुत्र को; न—नहीं; चेत्—यदि; गुरु-मुखी—गुरु के मुख से निकली; इयम्—यह; ते—तुम्हारा; कुतः—कहाँ से; अभद्र—हे अशुभ; असती—अत्यन्त बुरी; मतिः—प्रवृत्ति, रुझान ।

श्री नारद मुनि ने आगे कहा : जब हिरण्यकशिपु को अध्यापक से यह उत्तर मिल गया तो उसने पुनः अपने पुत्र को सम्बोधित किया। हिरण्यकशिपु ने कहा “रे धूर्त! हमारे परिवार के सबसे पतित! यदि तुमने यह शिक्षा अपने अध्यापकों से नहीं प्राप्त की, तो बतला कि इसे कहाँ से प्राप्त की?”

तात्पर्य : श्रील विश्वनाथ चक्रवती ठाकुर बतलाते हैं कि भक्ति वास्तव में भद्रा सती होती है अभद्र असती नहीं होती। दूसरे शब्दों में, भक्ति का ज्ञान न तो अशुभ होता है न शिष्टाचार के विरुद्ध होता है। भक्ति सीखना हर एक का कर्तव्य है। अतएव प्रह्लाद महाराज की तात्क्षणिक शिक्षा शुभ तथा पूर्ण सिद्ध होती है।

श्रीप्रह्लाद उवाच

मतिर्न कृष्णो परतः स्वतो वा  
मिथोऽभिपद्येत गृहव्रतानाम् ।

अदान्तगोभिर्विशतां तमिस्रं

पुनः पुनश्चर्वितचर्वणानाम् ॥ ३० ॥

शब्दार्थ

श्री-प्रह्लादः उवाच—श्री प्रह्लाद ने कहा; मतिः—झुकाव; न—कभी नहीं; कृष्णे—भगवान् कृष्ण में; परतः—अन्यों के उपदेशों से; स्वतः—अपनी बुद्धि से; वा—अथवा; मिथः—संयुक्त प्रयास से; अभिपद्येत—विकसित होती है; गृह-व्रतानाम्—भौतिकवादी देहात्मबुद्धि के प्रति अनुरक्त लोगों का; अदान्त—अनियंत्रित; गोभिः—इन्द्रियों द्वारा; विशताम्—प्रवेश करते हुए; तमिस्रम्—नारकीय जीवन में; पुनः—फिर से; पुनः—फिर से; चर्वित—पहले से चबाई गई वस्तुएँ; चर्वणानाम्—जो चबा रहे हैं।

प्रह्लाद महाराज ने उत्तर दिया: अपनी असंयमित इन्द्रियों के कारण जो लोग भौतिकतावादी जीवन के प्रति अत्यधिक लिप्त रहते हैं, वे नरकगामी होते हैं और बार-बार उसे चबाते हैं, जिसे पहले ही चबाया जा चुका है। ऐसे लोगों का कृष्ण के प्रति झुकाव न तो अन्यों के उपदेशों से, न अपने निजी प्रयासों से, न ही दोनों को मिलाकर कभी होता है।

तात्पर्य : इस श्लोक में *मतिर्न कृष्णे* शब्द कृष्ण के प्रति की गई भक्ति को बताते हैं। जो भी तथाकथित राजनीतिज्ञ, प्रकांड पंडित तथा दार्शनिक *भगवद्गीता* को पढ़ते हैं, वे अपने भौतिक अभिप्रायों के उपयुक्त कोई न कोई अर्थ निकालने का प्रयत्न करते हैं, किन्तु कृष्ण विषयक उनका यह भ्रम उन्हें कोई लाभ नहीं दिलाता। चूँकि ये सभी लोग *भगवद्गीता* को भौतिक रीति से तालमेल बैठाने के साधन के रूप में प्रयुक्त करने में रुचि रखते हैं अतएव उनके लिए कृष्ण या कृष्णभावनामृत का निरन्तर विचार करना असम्भव है (*मतिर्न कृष्णे*)। जैसाकि *भगवद्गीता* (१८.५५) में कहा गया है—*भक्त्या मामभिजानाति*—कोई कृष्ण को यथारूप में भक्ति के द्वारा ही समझ सकता है। तथाकथित राजनीतिज्ञ तथा विद्वान कृष्ण को काल्पनिक मानते हैं। राजनीतिज्ञ कहता है कि उनका कृष्ण *भगवद्गीता* में अंकित कृष्ण से भिन्न है। यद्यपि वह कृष्ण तथा राम को परमेश्वर मानता है किन्तु वह उन्हें निराकार समझता है, क्योंकि उसे कृष्ण की सेवा का कोई अनुमान नहीं रहता। अतएव उसका एकमात्र कार्य रहता है—*पुनः पुनश्चर्वितचर्वणानाम्*—चबाये हुए को बार-बार चबाना। ऐसे राजनीतिज्ञों तथा विद्वानों का लक्ष्य अपनी शारीरिक इन्द्रियों द्वारा भौतिक जगत का भोग करना होता है। इसलिए यहाँ पर स्पष्ट कहा गया है कि जो गृहव्रत हैं, अर्थात् जिनका एकमात्र लक्ष्य भौतिक जगत में इस शरीर के साथ सुखपूर्वक जीवन बिताना होता है वे कृष्ण को समझ नहीं सकते। *गृहव्रत* तथा *चर्वितचर्वणानाम्* दोनों ही पद सूचित करते हैं कि भौतिकतावादी पुरुष जन्म-जन्मांतर विभिन्न शरीरों में इन्द्रियतृप्ति भोगना चाहते हैं, किन्तु फिर भी वे असन्तुष्ट रहते हैं। व्यक्तिवाद के नाम पर ऐसे लोग

जीवन की भौतिकतावादी शैली के प्रति सदैव आसक्त रहते हैं। जैसाकि *भगवद्गीता* (२.४४) में कहा गया है—

*भोगैश्वर्यप्रसक्तानां तयापहतचेतसाम् ।*

*व्यवसायात्मिका बुद्धिः समाधौ न विधीयते ॥*

“जो लोग इन्द्रियभोग तथा भौतिक ऐश्वर्य के प्रति अत्यधिक आसक्त हैं और जो ऐसी वस्तुओं से मोहग्रस्त हैं उनके मनो में परमेश्वर की भक्ति का दृढ़ संकल्प नहीं उत्पन्न होता।” जो लोग भौतिक भोग में लिप्त हैं, वे भगवान् की भक्ति में दृढ़ नहीं हो सकते। वे न तो भगवान् कृष्ण को समझ सकते हैं न उनके उपदेश *भगवद्गीता* को। *अदान्त गोभिर्विशतां तमिस्रम्*—उनका मार्ग सचमुच नारकीय जीवन की ओर ले जाने वाला है। जैसाकि ऋषभदेव ने पुष्टि की है—*महत्सेवां द्वारमाहुर्विमुक्तेः*—मनुष्य को चाहिए कि किसी भक्त की सेवा करके कृष्ण को समझने का प्रयत्न करे। *महत्* शब्द भक्त के लिए आया है।

*महात्मानस्तुं मां पार्थ दैवीं प्रकृतिमाश्रिताः ।*

*भजन्त्यनन्यमनसो ज्ञात्वा भूतादिमव्ययम् ॥*

“हे पृथापुत्र! जो मोहग्रस्त नहीं हैं ऐसे महात्मा दैवी प्रकृति के संरक्षण में रहते हैं। वे पूर्णतया भक्ति में लगे रहते हैं, क्योंकि वे मुझे आदि अविनाशी भगवान् के रूप में जानते हैं।” (*भगवद्गीता* ९.१३) *महात्मा* वह है, जो चौबीसों घण्टे भक्ति में लगा रहता है। जैसाकि अगले श्लोकों में बताया गया है, जब तक कोई ऐसे महापुरुष के पीछे लग नहीं जाता, वह कृष्ण को नहीं समझ सकता। हिरण्यकशिपु जानना चाह रहा था कि प्रह्लाद ने कृष्णभावनामृत कहाँ से प्राप्त किया? किसने उसे सिखाया था? प्रह्लाद ने व्यंग्यपूर्वक उत्तर दिया “हे पिता! आप जैसे व्यक्ति कृष्ण को कभी नहीं समझ पाएँगे। केवल *महत्* अर्थात् महात्मा की सेवा करके कृष्ण को समझा जा सकता है। जो लोग भौतिक परिस्थितियों से समझौता करनेका प्रयास करते हैं, वे चबाये हुए को चबाते हुए कहे जाते हैं। आज तक कोई भी व्यक्ति भौतिक परिस्थितियों को समंजित नहीं कर पाया, किन्तु लोग जन्म-जन्मांतर, पीढ़ी-दर-पीढ़ी प्रयास करते हैं और बारम्बार असफल होते हैं। जब तक मनुष्य किसी *महत्*—महात्मा या भगवान् के अनन्य भक्त—द्वारा प्रशिक्षित नहीं किया जाता तब तक उसके द्वारा कृष्ण तथा उनकी भक्ति

को समझ पाने की सम्भावना नहीं है।”

न ते विदुः स्वार्थगतिं हि विष्णुं

दुराशया ये बहिरर्थमानिनः ।

अन्धा यथान्धैरुपनीयमाना-

स्तेऽपीशतन्त्र्यामुरुदाम्नि बद्धाः ॥ ३१ ॥

#### शब्दार्थ

न—नहीं; ते—वे; विदुः—जानते हैं; स्व-अर्थ-गतिम्—जीवन का चरम लक्ष्य या अपने असली हित को; हि—निस्सन्देह;  
विष्णुम्—भगवान् विष्णु तथा उनके धाम को; दुराशयाः—इस भौतिक जगत का भोग करने के इच्छुक; ये—जो; बहिः—बाह्य  
इन्द्रिय विषय; अर्थ-मानिनः—महत्त्वपूर्ण मानते हुए; अन्धाः—अन्धे व्यक्ति; यथा—जिस प्रकार; अन्धैः—दूसरे अन्धे व्यक्तियों  
द्वारा; उपनीयमानाः—ले जाएँ जाकर; ते—वे; अपि—यद्यपि; ईश-तन्त्र्याम्—भौतिक प्रकृति की रस्सियों ( नियमों ) को;  
ऊरु—अत्यन्त शक्तिशाली; दाम्नि—रस्सियाँ; बद्धाः—बँधी हुई।

जो लोग भौतिक जीवन के भोग की भावना द्वारा दृढ़ता से बँधे हैं और जिन्होंने अपने ही समान बाह्य इन्द्रिय विषयों से आसक्त अन्धे व्यक्ति को अपना नेता या गुरु स्वीकार कर रखा है, वे यह नहीं समझ सकते कि जीवन का लक्ष्य भगवद्धाम को वापस जाना तथा भगवान् विष्णु की सेवा में लगे रहना है। जिस प्रकार अन्धे व्यक्ति द्वारा ले जाया गया दूसरा अन्धा व्यक्ति सही मार्ग भूल सकता है और गड्ढे में गिर सकता है उसी प्रकार भौतिकता से आसक्त व्यक्ति अपने ही जैसे किसी दूसरे व्यक्ति द्वारा मार्ग दिखलाये जाने पर सकाम कर्म की रस्सियों द्वारा बंधे रहते हैं, जो अत्यन्त मजबूत धागों से बनी होती हैं और ऐसे लोग तीनों प्रकार के कष्ट सहते हुए पुनः-पुनः भौतिक जीवन प्राप्त करते रहते हैं।

तात्पर्य : चूँकि असुरों तथा भक्तों के विचारों में अन्तर होना ही चाहिए अतएव जब हिरण्यकशिपु की आलोचना उसके पुत्र प्रह्लाद महाराज द्वारा की जा रही थी तो उसे इस पर आश्चर्य नहीं होना चाहिए था कि वे उसकी जीवन-शैली से सहमत न थे। तो भी हिरण्यकशिपु अत्यन्त क्रुद्ध था और अपने पुत्र को अध्यापक या गुरु का उपहास करने कि लिए डाँटना चाहता था, क्योंकि उसके अध्यापक महान् आचार्य शुक्राचार्य के ब्राह्मण-परिवार में उत्पन्न हुए थे। शुक्र शब्द का अर्थ है “वीर्य” और आचार्य गुरु का सूचक है। आदि काल से वंशानुगत गुरुओं को मान्यता प्राप्त होती रही है, किन्तु प्रह्लाद महाराज ने ऐसे जन्मजात गुरु को या उसके उपदेश को ग्रहण करने से इनकार कर दिया था। वास्तविक गुरु श्रोत्रिय होता है और जो परम्परा से पूर्ण ज्ञान सुनता है या प्राप्त किये होता है। अतएव प्रह्लाद

महाराज ने जन्मजात गुरु को मान्यता नहीं दी। ऐसे गुरु विष्णु में तनिक भी रुचि नहीं दिखाते। निस्सन्देह, वे भौतिक सफलता के इच्छुक रहते हैं ( *बहिरर्थमानिनः* )। *बहिः* शब्द का अर्थ है “बाह्य,” *अर्थ* का “हित” तथा *मानिनः* का अर्थ “गम्भीरता से लेना” होता है। एक तरह से सभी लोग आध्यात्मिक जगत से अनजान हैं। भौतिकतावादियों का ज्ञान इस भौतिक जगत की ४०० करोड़ मील की सीमा तक संकुचित है, जो सृष्टि का अंधकारमय अंश है। वे यह नहीं जानते कि इस भौतिक जगत के परे आध्यात्मिक जगत भी है। जब तक कोई भगवान् का भक्त नहीं होता वह आध्यात्मिक जगत के अस्तित्व को नहीं समझ सकता। ऐसे गुरु जो इस भौतिक जगत में ही रुचि रखते हैं अन्धे कहे गये हैं। ऐसे अन्धे उन अनेक अन्धे अनुयायियों का मार्गदर्शन कर सकते हैं जिन्हें भौतिक दशाओं का सही ज्ञान नहीं है किन्तु ऐसे लोग प्रह्लाद महाराज जैसे भक्तों द्वारा स्वीकार नहीं किये जाते। ऐसे अन्धे गुरु बाह्य भौतिक जगत में रुचि रखने के कारण सदैव प्रकृति की मजबूत रस्सियों द्वारा बँधे रहते हैं।

नैषां मतिस्तावदुरुक्रमाङ्घ्रि

स्पृशत्यनर्थापगमो यदर्थः ।

महीयसां पादरजोऽभिषेकं

निष्किञ्चनानां न वृणीत यावत् ॥ ३२ ॥

शब्दार्थ

न—नहीं; एषाम्—इनकी; मतिः—चेतना; तावत्—तब तक; उरुक्रम-अङ्घ्रिम्—भगवान् के चरणकमल, जो असामान्य कार्य करने के लिए विख्यात हैं; स्पृशति—छूती है; अनर्थ—अवाञ्छित वस्तुओं का; अपगमः—विलोप, छिपना; यत्—जिसका; अर्थः—प्रयोजन; महीयसाम्—महात्माओं ( या भक्तों ) का; पाद-रजः—चरणकमल की धूल द्वारा; अभिषेकम्—राजतिलक; निष्किञ्चनानाम्—उन भक्तों का जिन्हें इस भौतिक जगत से कुछ भी लेना-देना नहीं है; न—नहीं; वृणीत—स्वीकार करे; यावत्—जब तक।

जब तक भौतिकतावादी जीवन के प्रति झुकाव रखने वाले लोग ऐसे वैष्णवों के चरणकमलों की धूलि अपने शरीर में नहीं लगाते जो भौतिक कल्मष से पूर्णतया मुक्त हैं, तब तक वे भगवान् के चरणकमलों के प्रति आसक्त नहीं हो सकते जिनका यशोगान उनके अपने असामान्य कार्यकलापों के लिए किया जाता है। केवल कृष्णभावनाभावित बनकर एवं इस प्रकार से भगवान् के चरणकमलों की शरण ग्रहण करके ही मनुष्य भौतिक कल्मष से मुक्त हो सकता है।

**तात्पर्य :** कृष्णभावनाभावित होने से *अनर्थ अपगमः* प्राप्त होता है अर्थात् सभी अनर्थों या उन दुःखमय दशाओं का लोप होता है, जिन्हें हमने व्यर्थ ही अंगीकार कर रखा है। भौतिक देह इन अवांछित दुःखमय दशाओं का मूल कारण है। समग्र वैदिक सभ्यता इन्हीं अवांछित दुःखों से मुक्ति दिलाने के लिए है, किन्तु प्रकृति के नियमों से बद्ध लोग जीवन-लक्ष्य को नहीं जानते। जैसाकि पिछले श्लोक में कहा गया है—*ईश-तन्त्र्यम् उरुदाम्नि बद्धाः*—वे प्रकृति के तीन प्रबल गुणों द्वारा बंधे हैं। वह शिक्षा जो बद्धजीव को जन्म-जन्मांतर बद्ध रखती है भौतिकतावादी शिक्षा कहलाती है। श्रील भक्तिविनोद ठाकुर ने बताया है कि भौतिकतावादी शिक्षा माया के प्रभाव को बढ़ाती है। ऐसी शिक्षा से बद्धजीव भौतिकतावादी जीवन के प्रति अधिकाधिक आकृष्ट होता है और अवांछित दुःखों से मुक्ति पाने से दूर चला जाता है।

कोई यह पूछ सकता है कि अत्यधिक शिक्षित लोग कृष्णभावनामृत को क्यों स्वीकार नहीं करते? इसका कारण इस श्लोक में बतलाया गया है। जब तक कोई पूर्णतया कृष्णभावनाभावित प्रामाणिक गुरु की शरण ग्रहण नहीं करता तब तक कृष्ण को समझने का प्रश्न ही नहीं उठता। शिक्षक, विद्वान तथा लाखों व्यक्तियों द्वारा पूजित राजनीतिक नेता जीवन के लक्ष्य को नहीं समझ सकते और कृष्णभावनामृत को अंगीकार नहीं कर सकते हैं क्योंकि उन्होंने प्रामाणिक गुरु एवं वेदों को स्वीकार नहीं किया है। अतएव *मुण्डक उपनिषद्* (३.२.३) में कहा गया है—*नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन*—न तो शिक्षा प्राप्त करने से, न विद्वत्तापूर्ण भाषण करने से (*प्रवचनेन लभ्यः*) अथवा अनेकानेक अद्भुत वस्तुओं की खोज करने वाले बुद्धिमान विज्ञानी बनने से कोई स्वरूपसिद्ध बन सकता है। कोई कृष्ण को तब तक नहीं समझ सकता जब तक उस पर भगवान् की कृपा न हो। जिसने कृष्ण के शुद्ध भक्त की शरण ले ली है और उसके चरणकमलों की धूलि धारण की है, वही कृष्ण को समझ सकता है। सर्वप्रथम मनुष्य को यह जानना चाहिए कि वह माया के चंगुल से किस प्रकार बाहर निकले। इसका एकमात्र उपाय है कि वह कृष्णभावनाभावित हो जाये और सरलता से कृष्णभावनाभावित होने के लिए आवश्यक है कि किसी स्वरूपसिद्ध महत् या महात्मा की शरण ग्रहण की जाये जिसका एकमात्र स्वार्थ परमेश्वर की भक्ति में लगे रहना है। जैसाकि भगवान् *भगवद्गीता* (९.१३) में कहते हैं—

महात्मानस्तु मां पार्थ दैवीं प्रकृतिमाश्रिताः ।

भजन्त्यनन्यमनसो ज्ञात्वा भूतादिमव्ययम् ॥

“हे पृथापुत्र! जो मोहग्रस्त नहीं हैं अर्थात् महात्मा हैं, वे दैवी प्रकृति के संरक्षण में रहते हैं। वे पूर्णतया भक्ति में संलग्न रहते हैं, क्योंकि वे मुझे आदि तथा अविनाशी भगवान् के रूप में जानते हैं।”  
अतएव जीवन के अवाञ्छित दुखों को समाप्त करने के लिए मनुष्य को भक्त बन जाना चाहिए।

यस्यास्ति भक्तिर्भगवत्यकिञ्चना

सर्वैर्गुणैस्तत्र समासते सुराः ।

“जिसमें कृष्ण के प्रति अविचल भक्तिमयी श्रद्धा है, वह निरन्तर कृष्ण तथा देवताओं के सद्गुणों को प्रकट करता है।” (भागवत ५.१८.१२)

यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ ।

तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः ॥

“केवल उन महात्माओं को वैदिक ज्ञान का सारा अर्थ स्वतः प्रकट होता है जिन्हें भगवान् तथा गुरु दोनों पर ही निश्चित श्रद्धा होती है।” (श्वेताश्वतर उपनिषद् ६.२३)

यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूं स्वाम् ।

“भगवान् केवल उसे प्राप्त हो पाता है, जिसे वे स्वयं चुनते हैं। ऐसे व्यक्ति को वे अपना स्वरूप प्रकट करते हैं।” (मुण्डक उपनिषद् ३.२.३)

ये वैदिक आदेश हैं। मनुष्य को चाहिए कि भौतिक शिक्षाप्राप्त विद्वान या राजनीतिज्ञ की शरण ग्रहण न करके स्वरूपसिद्ध गुरु की शरण में जाये। उसे चाहिए कि वह ऐसे व्यक्ति की शरण ले जो भक्ति में संलग्न रहता हो और भौतिक कल्मष से मुक्त हो (निष्किञ्चन)। भगवद्धाम जाने का यही उपाय है।

इत्युक्त्वोपरतं पुत्रं हिरण्यकशिपू रुषा ।

अन्धीकृतात्मा स्वोत्सङ्गान्निरस्यत महीतले ॥ ३३ ॥

शब्दार्थ



इति—इस प्रकार; उक्त्वा—कहकर; उपरतम्—रुक गया; पुत्रम्—पुत्र को; हिरण्यकशिपुः—हिरण्यकशिपु ने; रुषा—अत्यधिक क्रोध से; अन्धीकृत-आत्मा—आत्म-साक्षात्कार से अन्धा बना हुआ; स्व-उत्सङ्गात्—अपनी गोद से; निरस्यत—फेंक दिया; मही-तले—भूमि पर।

जब प्रह्लाद महाराज इस प्रकार बोलकर शान्त हो गये तो क्रोध से अन्धे हिरण्यकशिपु ने उन्हें अपनी गोद से उठाकर भूमि पर फेंक दिया।

आहामर्षरुषाविष्टः कषायीभूतलोचनः ।

वध्यतामाश्रयं वध्यो निःसारयत नैरृताः ॥ ३४ ॥

#### शब्दार्थ

आह—उसने कहा; अमर्ष—रोष; रुषा—तथा क्रोध से; आविष्टः—पराभूत, वशीभूत; कषायी-भूत—गरम लाल ताँबे की भाँति हुए; लोचनः—जिसकी आँखें; वध्यताम्—मार डालो; आशु—तुरन्त; अयम्—इसको; वध्यः—मारने के योग्य है, जो; निःसारयत—बाहर निकाल दो; नैरृताः—हे असुरो।

अत्यन्त क्रुद्ध तथा पिघले ताम्र जैसी लाल-लाल आँखें किये हिरण्यकशिपु ने अपने नौकरों से कहा : अरे असुरो, इस बालक को मेरी आँखों से दूर करो। यह वध करने योग्य है। इसे जितनी जल्दी हो सके मार डालो।

अयं मे भ्रातृहा सोऽयं हित्वा स्वान्सुहृदोऽधमः ।

पितृव्यहन्तुः पादौ यो विष्णोर्दासवदर्चति ॥ ३५ ॥

#### शब्दार्थ

अयम्—यह; मे—मेरे; भ्रातृ-हा—भाई को मारने वाला; सः—वह; अयम्—यह; हित्वा—त्यागकर; स्वान्—अपने; सुहृदः—शुभचिन्तक; अधमः—अत्यन्त नीच; पितृव्य-हन्तुः—चाचा हिरण्याक्ष के मारने वाले के; पादौ—चरणों पर; यः—जो; विष्णोः—भगवान् विष्णु के; दास-वत्—नौकर की तरह; अर्चति—सेवा करता है।

यह बालक प्रह्लाद मेरे भाई को मारने वाला है, क्योंकि इसने एक तुच्छ नौकर की भाँति मेरे शत्रु भगवान् विष्णु की सेवा में संलग्न रहने के लिए अपने परिवार को छोड़ दिया है।

तात्पर्य : हिरण्यकशिपु ने अपने पुत्र प्रह्लाद महाराज को अपने भाई का हत्यारा माना है, क्योंकि वे भगवान् विष्णु की भक्ति में लगे रहते थे। दूसरे शब्दों में, प्रह्लाद महाराज को तो सारूप्य मोक्ष प्राप्त होगा और इस तरह वे भगवान् विष्णु के समान थे। अतएव प्रह्लाद महाराज का वध हिरण्यकशिपु द्वारा किया जाना था। भक्तों या वैष्णवों को सारूप्य, सालोक्य, सार्थि तथा सामीप्य—ये चार प्रकार की मुक्तियाँ प्राप्त होती हैं जब कि मायावादियों को सायुज्य मुक्ति प्राप्त होती है। किन्तु सायुज्य मुक्ति अत्यन्त निश्चित नहीं है, जबकि भक्तों की चारों मुक्तियाँ अत्यन्त निश्चित हैं। यद्यपि वैकुण्ठ लोक में भगवान् विष्णु या नारायण के सारे दास भगवान् के ही समान स्तर पर रहते हैं, किन्तु वहाँ के भक्त

अच्छी तरह जानते हैं कि भगवान् उनके स्वामी हैं और वे उनके दास हैं ।

विष्णोर्वा साध्वसौ किं नु करिष्यत्यसमञ्जसः ।

सौहृदं दुस्त्यजं पित्रोरहाद्यः पञ्चहायनः ॥ ३६ ॥

#### शब्दार्थ

विष्णोः—विष्णु को; वा—अथवा; साधु—अच्छा; असौ—यह; किम्—क्या; नु—निस्सन्देह; करिष्यति—करेगा; असमञ्जसः—विश्वास न करने योग्य; सौहृदम्—प्रिय सम्बन्ध; दुस्त्यजम्—छोड़ पाना कठिन; पित्रोः—अपने पिता-माता का; अहात्—छोड़ दिया; यः—जो; पञ्च-हायनः—केवल पाँच वर्ष का ।

यद्यपि प्रह्लाद केवल पाँच वर्ष का है, किन्तु इसी अल्पावस्था में उसने अपने माता-पिता के स्नेह-सम्बन्ध को त्याग दिया है। अतएव यह निश्चय ही विश्वास करने योग्य नहीं है। निस्सन्देह, इस पर विश्वास नहीं किया जा सकता कि वह विष्णु के प्रति भी ठीक से आचरण करेगा।

परोऽप्यपत्यं हितकृद्यथौषधं

स्वदेहजोऽप्यामयवत्सुतोऽहितः ।

छिन्द्यात्तदङ्गं यदुतात्मनोऽहितं

शेषं सुखं जीवति यद्विवर्जनात् ॥ ३७ ॥

#### शब्दार्थ

परः—उसी परिवार से सम्बन्धित न होना; अपि—यद्यपि; अपत्यम्—बालक; हित-कृत्—जो लाभप्रद है; यथा—जिस प्रकार; औषधम्—औषधि; स्व-देह-जः—अपने ही शरीर से उत्पन्न; अपि—यद्यपि; आमय-वत्—रोग के समान; सुतः—पुत्र; अहितः—जो हितैषी नहीं है; छिन्द्यात्—काट देना चाहिए; तत्—उस; अङ्गम्—शरीर के भाग को; यत्—जो; उत—निस्सन्देह; आत्मनः—शरीर का; अहितम्—अनुपयोगी; शेषम्—बचा हुआ, शेष; सुखम्—सुखपूर्वक; जीवति—जीवित रहता है; यत्—जिसके; विवर्जनात्—काट देने से ।

यद्यपि औषधि ( जड़ी-बूटी ) जंगल में उत्पन्न होने के कारण मनुष्य की श्रेणी में परिगणित नहीं होती किन्तु लाभप्रद होने पर अत्यन्त सावधानी से रखी जाती है। इसी प्रकार यदि अपने परिवार से बाहर का कोई व्यक्ति अनुकूल हो तो उसे पुत्र के समान संरक्षण प्रदान किया जाना चाहिए। दूसरी ओर, यदि किसी के शरीर का कोई अंग रोग से विषाक्त हो जाये तो उसे काट कर अलग कर देना चाहिए जिससे शेष शरीर सुखपूर्वक जीवित रहे। इसी प्रकार भले ही अपना आत्मज पुत्र ही क्यों न हो, यदि वह प्रतिकूल है, तो उसका परित्याग कर देना चाहिए।

तात्पर्य : श्री चैतन्य महाप्रभु ने समस्त भगवद्भक्तों को उपदेश दिया है कि वे तृण से भी अधिक विनीत और वृक्षों से भी अधिक सहिष्णु बनें अन्यथा उनके भक्ति-मार्ग में सदैव उपद्रव होते रहेंगे। यहाँ पर इसका प्रत्यक्ष उदाहरण दिया गया है कि किस तरह एक भक्त एक अभक्त द्वारा, जो कि एक

वत्सल पिता है, सताया जाता है। यह भौतिक जगत ऐसा है कि अभक्त पिता एक भक्त पुत्र का शत्रु बन जाता है। अपने ही पुत्र को मार डालने का निश्चय करके हिरण्यकशिपु ने ऐसा उदाहरण प्रस्तुत किया जो अपने शरीर के ही एक अंग के विषाक्त होने तथा शेष शरीर के लिए हानिकारक होने के कारण उसे काट कर अलग करने के तुल्य है। निस्सन्देह, यही उदाहरण अभक्तों पर भी लागू किया जा सकता है। चाणक्य पण्डित का उपदेश है—*त्यज दुर्जनसंसर्गम् भज साधुसमागमम्*—जो भक्त सचमुच ही आध्यात्मिक जीवन में अग्रसर होने के लिए इच्छुक हैं उन्हें चाहिए कि अभक्तों की संगति छोड़कर सदैव भक्तों की संगति करें। इस शरीर से अत्यधिक लिप्त होना अज्ञानता है, क्योंकि यह क्षणिक तथा दुःखमय है। अतएव जो भक्त आत्म-साक्षात्कार के हेतु तपस्या करने के लिए कृतसंकल्प हैं और जो आध्यात्मिक चेतना में अग्रसर होना चाहते हैं उन्हें नास्तिक अभक्तों का साथ छोड़ देना चाहिए। प्रह्लाद महाराज में अपने पिता हिरण्यकशिपु की विचारधारा से असहयोग करने की प्रवृत्ति बनी रही तो भी वे सहिष्णु तथा विनीत थे। किन्तु हिरण्यकशिपु अभक्त होने के कारण इतना कलुषित था कि वह अपने पुत्र को मार डालने तक के लिए सन्नद्ध था। उसने अंग काट देने के तर्क द्वारा इसकी पुष्टि करनी चाही।

सर्वैरुपायैर्हन्तव्यः सम्भोजशयनासनैः ।

सुहृल्लिङ्गधरः शत्रुर्मुनेर्दुष्टमिवेन्द्रियम् ॥ ३८ ॥

#### शब्दार्थ

सर्वैः—सभी; उपायैः—उपायों के द्वारा; हन्तव्यः—मार डाला जाये; सम्भोज—खाते; शयन—लेटे; आसनैः—बैठे हुए; सुहृत्-लिङ्ग-धरः—मित्र का बाना धारण किये हुए; शत्रुः—दुश्मन; मुनेः—पुनियों की; दुष्टम्—अनियंत्रित; इव—जैसे; इन्द्रियम्—इन्द्रियाँ।

जिस प्रकार असंयमित इन्द्रियाँ आध्यात्मिक जीवन में आगे बढ़ने के लिए व्यस्त योगियों की शत्रु होती हैं उसी प्रकार यह प्रह्लाद मित्र के समान प्रतीत होकर भी मेरा शत्रु है, क्योंकि इस पर मेरा वश नहीं चलता। अतएव खाते, बैठे या सोते हुए, सभी तरह से इस शत्रु को मार डाला जाये।

तात्पर्य : हिरण्यकशिपु ने प्रह्लाद महाराज को मार डालने का अभियान नियोजित किया कि वह अपने पुत्र को खाते समय विष खिला कर, उसे उबलते तेल में बैठा कर या जब वह सो रहा हो तो उसे हाथी के पैरों के नीचे फेंककर मार डालेगा। इस तरह हिरण्यकशिपु ने अपने उस निर्दोष बालक को, जो अभी केवल पाँच वर्ष का था, मार डालने का इसलिए निश्चय किया, क्योंकि यह बालक भगवान्

का भक्त बन गया था। ऐसी मनोवृत्ति होती है अभक्तों की भक्तों के प्रति।

नैरृतास्ते समादिष्टा भर्त्रा वै शूलपाणयः ।

तिग्मदंष्ट्रकरालास्यास्ताम्रश्रुशिरोरुहाः ॥ ३९ ॥

नदन्तो भैरवं नादं छिन्धि भिन्धीति वादिनः ।

आसीनं चाहनञ्शलैः प्रह्लादं सर्वमर्मसु ॥ ४० ॥

#### शब्दार्थ

नैरृताः—असुर; ते—वे; समादिष्टाः—आज्ञा पाकर; भर्त्रा—अपने स्वामी से; वै—निस्सन्देह; शूल-पाणयः—अपने हाथों में त्रिशूल लेकर; तिग्म—अत्यन्त तीखे; दंष्ट्र—दाँत; कराल—तथा भयानक; आस्याः—मुख; ताम्र-श्रु—ताँबे जैसी मूछें; शिरोरुहाः—सिर के बाल; नदन्तः—ध्वनि करते; भैरवम्—भयानक; नादम्—ध्वनि; छिन्धि—काट दो; भिन्धि—छोट-छोटे टुकड़े कर डालो; इति—इस प्रकार; वादिनः—बोलते हुए; आसीनम्—चुपचाप बैठा हुआ; च—तथा; अहनन्—आक्रमण किया; शूलैः—अपने त्रिशूलों से; प्रह्लादम्—प्रह्लाद पर; सर्व-मर्मसु—शरीर के कोमल भागों ( मर्मस्थलों ) पर।

इस प्रकार हिरण्यकशिपु के सारे नौकर राक्षसगण प्रह्लाद महाराज के शरीर के नम्र भागों ( मर्मस्थलों ) पर अपने त्रिशूल से वार करने लगे। इन राक्षसों के मुख अत्यन्त भयानक थे, दाँत तीखे तथा दाढ़ी एवं बाल ताँबे जैसे थे और वे सब अत्यन्त भयावने प्रतीत हो रहे थे। वे उच्च स्वर से “उसके टुकड़े-टुकड़े कर दो। उसे छेद डालो” इस तरह चिल्ला कर प्रह्लाद महाराज पर जो शान्त भाव से भगवान् का ध्यान करते हुए आसीन थे प्रहार करने लगे।

परे ब्रह्मण्यनिर्देश्ये भगवत्यखिलात्मनि ।

युक्तात्मन्यफला आसन्नपुण्यस्येव सत्क्रियाः ॥ ४१ ॥

#### शब्दार्थ

परे—परम; ब्रह्मणि—ब्रह्म; अनिर्देश्ये—इन्द्रियों से अदृश्य; भगवति—भगवान् में; अखिल-आत्मनि—सबों के परमात्मा; युक्त-आत्मनि—जिसका मन लगा था, उस ( प्रह्लाद ) पर; अफलाः—निष्फल, व्यर्थ; आसन्—थे; अपुण्यस्य—ऐसे व्यक्ति का जिसके पास पुण्यकर्मों की पूँजी न हो; इव—सदृश; सत्-क्रियाः—सत्कर्म ( यथा यज्ञ तथा तपस्या )।

ऐसा व्यक्ति जिसके पास कोई पुण्यकर्म की कमाई नहीं होती यदि वह कोई अच्छा कार्य करे भी तो उसका कोई परिणाम नहीं निकलता। इसी प्रकार राक्षसों के हथियारों का प्रह्लाद महाराज पर कोई प्रकट प्रभाव नहीं पड़ रहा था, क्योंकि वे भौतिक दशाओं से अविचलित रहने वाले भक्त थे और उन भगवान् का ध्यान करने तथा सेवा करने में व्यस्त थे, जो अनश्वर थे, जिन्हें भौतिक इन्द्रियों द्वारा अनुभव नहीं किया जा सकता और जो सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड के आत्मा हैं।

तात्पर्य : प्रह्लाद महाराज भगवान् के विचार में निरन्तर पूर्णतया मग्न रहते थे। जैसाकि कहा गया है गोविन्द परिरम्भितः। प्रह्लाद महाराज सदैव ध्यान में लीन रहते थे, अतएव उनकी रक्षा गोविन्द करने

थे। जिस प्रकार एक छोटा सा शिशु अपने पिता या माता की गोद में पूर्णतः सुरक्षित रहता है वैसे ही भक्त समस्त परिस्थितियों में परमेश्वर द्वारा सुरक्षित रहता है। तो क्या इसका अर्थ यह होता है कि जब राक्षसों ने प्रह्लाद महाराज पर आक्रमण किया तो गोविन्द पर भी उनका प्रहार हुआ? ऐसा सम्भव नहीं है। असुरों ने भगवान् को चोट पहुँचाने या मार डालने के अनेक प्रयास किये, किन्तु वे किसी भौतिक साधन द्वारा क्षतिग्रस्त नहीं हो सकते, क्योंकि वे सदैव अध्यात्म में लीन रहते हैं। अतएव यहाँ पर परे ब्रह्मणि शब्दों का प्रयोग हुआ है। राक्षसगण न तो परमेश्वर को देख सकते हैं, न उन्हें छू सकते हैं, यद्यपि वे ऊपरी तौर पर यह सोचे कि वे भगवान् के दिव्य शरीर पर अपने भौतिक हथियारों से प्रहार कर रहे हैं। इस श्लोक में भगवान् को अनिर्देश्ये कहा गया है। चूँकि वे सर्वव्यापी हैं, अतएव हम उन्हें किसी एक स्थान पर नहीं देख सकते। साथ ही, वे अखिलात्मा हैं, वे हर वस्तु के प्राण हैं, यहाँ तक कि भौतिक हथियारों के भी। जो लोग भगवान् की स्थिति को नहीं समझते वे हतभाग्य हैं। भले ही वे यह सोचें कि वे भगवान् तथा उसके भक्त को मार सकते हैं, किन्तु उनके सारे प्रयास व्यर्थ जाते हैं। भगवान् जानते हैं कि उनसे किस प्रकार निपटा जाए।

प्रयासेऽपहते तस्मिन्दैत्येन्द्रः परिशङ्कितः ।

चकार तद्वधोपायान्निर्बन्धेन युधिष्ठिर ॥ ४२ ॥

#### शब्दार्थ

प्रयासे—प्रयास में; अपहते—व्यर्थ; तस्मिन्—उस; दैत्य-इन्द्रः—दैत्यों का राजा हिरण्यकशिपु; परिशङ्कितः—अत्यन्त भयभीत (यह सोचकर कि बालक की रक्षा हो रही है); चकार—किया; तत्-वध-उपायान्—उसे मारने के विविध उपाय; निर्बन्धेन—संकल्प से; युधिष्ठिर—हे राजा युधिष्ठिर।

हे राजा युधिष्ठिर, जब प्रह्लाद महाराज को मार डालने के असुरों के सारे प्रयास निष्फल हो गये तो दैत्यराज हिरण्यकशिपु अत्यन्त भयभीत होकर उसे मारने के अन्य उपायों की योजना करने लगा।

दिग्गजैर्दन्द्शूकेन्द्रैरभिचारावपातनैः ।

मायाभिः सन्निरोधैश्च गरदानैरभोजनैः ।

हिमवाय्वग्निसलिलैः पर्वताक्रमणैरपि ॥ ४३ ॥

न शशाक यदा हन्तुमपापमसुरः सुतम् ।

चिन्तां दीर्घतमां प्राप्तस्तत्कर्तुं नाभ्यपद्यत ॥ ४४ ॥

शब्दार्थ

दिक्-गजैः—बड़े-बड़े हाथियों द्वारा, जिन्हें अपने पैरों तले किसी भी वस्तु को कुचल डालने का प्रशिक्षण दिया गया था; दन्द-शूक-इन्द्रैः—राजा के जहरीले साँपों द्वारा कटा कर; अभिचार—विध्वंसक जादू द्वारा; अवपातनैः—पर्वत की चोटी से गिरा कर; मायाभिः—युक्तियों द्वारा; सन्नरोधैः—बन्दी बना कर; च—तथा; गर-दानैः—विष पिला कर; अभोजनैः—भूखों रख कर; हिम-वायु-अग्नि—ठिठुरती ठंड, हवा तथा अग्नि; सलिलैः—तथा जल से; पर्वत-आक्रमणैः—बड़े-बड़े पत्थरों तथा पहाड़ियों से कुचला कर; अपि—भी; न शशाक—समर्थ न हुआ; यदा—जब; हन्तुम्—मारने के लिए; अपापम्—जो तनिक भी पापी न था; असुरः—असुर ( हिरण्यकशिपु ); सुतम्—अपने पुत्र को; चिन्ताम्—चिन्ता; दीर्घ-तमाम्—अधिक काल से चली आ रही; प्राप्तः—प्राप्त किया; तत्-कर्तुम्—उसे करने के लिए; न—नहीं; अभ्यपद्यत—प्राप्त किया।

हिरण्यकशिपु अपने पुत्र को विशाल हाथी के पाँवों के नीचे, बड़े-बड़े भयानक साँपों के बीच में, विध्वंसक जादू का प्रयोग करके, पर्वत की चोटी से नीचे गिरा कर, मायावी तरकीबें करके, विष देकर, भूखों रख कर, ठिठुरती ठंड, हवा, अग्नि तथा जल में रखकर या उस पर भारी पत्थर फेंक कर भी नहीं मार पाया। जब उसने देखा कि वह निर्दोष प्रह्लाद को किसी तरह हानि नहीं पहुँचा पाया, तो वह अत्यन्त चिन्ता में पड़ गया कि आगे क्या किया जाये।

एष मे बह्वसाधूक्तो वधोपायाश्च निर्मिताः ।

तैस्तैर्द्रोहैरसद्धर्मैर्मुक्तः स्वेनैव तेजसा ॥ ४५ ॥

शब्दार्थ

एषः—यह; मे—मेरा; बहु—अनेक; असाधु-उक्तः—गालियाँ; वध-उपायाः—उसे मारने के अनेक उपायों द्वारा; च—तथा; निर्मिताः—कल्पित, बनाया; तैः—उनके द्वारा; तैः—उनके द्वारा; द्रोहैः—विश्वासघात से; असत्-धर्मैः—घृणित कर्म के द्वारा; मुक्तः—छूटा हुआ; स्वेन—अपने; एव—निस्सन्देह; तेजसा—तेज से।

हिरण्यकशिपु ने विचार किया: मैंने इस बालक को दण्डित करने के लिए अनेक गालियाँ दी हैं, अपशब्द कहे हैं और उसे मार डालने के लिए अनेक उपाय किये हैं, किन्तु मेरे समस्त प्रयत्नों के बावजूद यह मरा नहीं। निस्सन्देह, इन विश्वासघातों तथा घृणित कर्मों के द्वारा वह तनिक भी प्रभावित नहीं हुआ और अपनी ही शक्ति से उसने अपने को बचाया है।

वर्तमानोऽविदूरे वै बालोऽप्यजडधीरयम् ।

न विस्मरति मेऽनार्यं शुनः शेष इव प्रभुः ॥ ४६ ॥

शब्दार्थ

वर्तमानः—स्थित होकर; अविदूरे—अधिक दूरी पर नहीं; वै—निस्सन्देह; बालः—शिशु मात्र; अपि—यद्यपि; अजड-धीः—पूर्ण निर्भीक; अयम्—यह; न—नहीं; विस्मरति—भूलता है; मे—मेरा; अनार्यम्—दुर्व्यवहार; शुनः शेषः—कुत्ते की टेढ़ी पूँछ; इव—सदृश; प्रभुः—समर्थ होकर।

यद्यपि यह मेरे अत्यन्त निकट है और निरा बालक है फिर भी यह पूर्ण निर्भीक है। यह उस कुत्ते की टेढ़ी पूँछ के समान है, जो कभी सीधी नहीं की जा सकती, क्योंकि यह मेरे दुर्व्यवहार

तथा अपने स्वामी भगवान् विष्णु से अपने सम्बन्ध को कभी भी नहीं भूलता है।

तात्पर्य : शुनः शब्द का अर्थ है “कुत्ते की” और शेष का अर्थ है “पूँछ”। यह उदाहरण अत्यन्त सीधा सा है। कोई कुत्ते की पूँछ को सीधा करने का कितना ही प्रयास क्यों न करे वह कभी भी सीधी नहीं होती अपितु सदैव टेढ़ी ही रहती है। शुनः शेष अजीगर्त के द्वितीय पुत्र का नाम भी है। उसे हरिश्चन्द्र को भी बेच दिया गया था, लेकिन बाद में उसने विश्वामित्र की शरण ले ली थी जो हरिश्चन्द्र का शत्रु था और फिर उसका साथ नहीं छोड़ा।

अप्रमेयानुभावोऽयमकुतश्चिद्भयोऽमरः ।

नूनमेतद्विरोधेन मृत्युर्मे भविता न वा ॥ ४७ ॥

#### शब्दार्थ

अप्रमेय—असीम; अनुभावः—यश; अयम्—यह; अकुतश्चित्-भयः—किसी भी ओर से भय न होना; अमरः—अमर; नूनम्—निश्चय ही; एतत्-विरोधेन—इसका विरोध करने से; मृत्युः—मृत्यु; मे—मेरी; भविता—हो जाये; न—नहीं; वा—अथवा।

मैं देखता हूँ कि इस बालक की शक्ति असीम है, क्योंकि यह मेरे किसी भी दण्ड से भयभीत नहीं हुआ। यह अमर प्रतीत होता है, अतएव इसके प्रति शत्रुता के भाव से मैं मरूँगा। या ऐसा नहीं भी हो सकता।

इति तच्चिन्तया किञ्चिन्म्लानश्रियमधोमुखम् ।

शण्डामर्कावौशनसौ विविक्त इति होचतुः ॥ ४८ ॥

#### शब्दार्थ

इति—इस प्रकार; तत्-चिन्तया—प्रह्लाद महाराज की स्थिति के कारण चिन्ता से पूर्ण; किञ्चित्—कुछ-कुछ; म्लान—मुरझाया; श्रियम्—शारीरिक कान्ति; अधः-मुखम्—नीचे मुँह किये; शण्ड-अमर्कौ—षण्ड तथा अमर्क; औशनसौ—शुक्राचार्य के पुत्रो; विविक्ते—गुप्त स्थान में; इति—इस प्रकार; ह—निस्सन्देह; ऊचतुः—बोले।

इस प्रकार सोचते हुए चिन्तित तथा कान्तिहीन दैत्यराज अपना मुँह नीचा किये चुप रह गया। शुक्राचार्य के दोनों पुत्र षण्ड तथा अमर्क एकान्त में उससे बोले।

जितं त्वयैकेन जगत्त्रयं भ्रुवोर्

विजृम्भणत्रस्तसमस्तधिष्यपम् ।

न तस्य चिन्त्यं तव नाथ चक्ष्वहे

न वै शिशूनां गुणदोषयोः पदम् ॥ ४९ ॥

#### शब्दार्थ

जितम्—जीता गया; त्वया—तुम्हारे द्वारा; एकेन—अकेले; जगत्-त्रयम्—तीनों जगत; भ्रुवोः—भौहों के; विजृम्भण—फैलने से; त्रस्त—भयभीत हो जाते हैं; समस्त—सारे; धिष्यपम्—प्रत्येक लोक के प्रमुख व्यक्ति; न—नहीं; तस्य—उसकी; चिन्त्यम्—चिन्ता; तव—तुम्हारा; नाथ—हे स्वामी; चक्ष्वहे—हम देख रहे हैं; न—न तो; वै—निस्सन्देह; शिशूनाम्—बच्चों के; गुण-दोषयोः—उत्तम गुण या दोष का; पदम्—विषय।

हे स्वामी, हम जानते हैं कि यदि आप अपनी भौहों को हिला भी दें तो विविध लोकों के नायक ( पालक ) अत्यन्त भयभीत हो उठते हैं। आपने किसी की सहायता लिए बिना ही तीनों लोकों को जीत लिया है। इसलिए हमें आपके चिन्तित होने का कोई कारण नहीं दिख रहा। जहाँ तक प्रह्लाद का प्रश्न है, वह एक बालक मात्र है और वह चिन्ता का कारण नहीं बन सकता। अन्ततः उसके गुणों या अवगुणों का कोई महत्व नहीं है।

इमं तु पाशैर्वरुणस्य बद्ध्वा  
निधेहि भीतो न पलायते यथा ।  
बुद्धिश्च पुंसो वयसार्थसेवया  
यावद्गुरुभार्गव आगमिष्यति ॥ ५० ॥

#### शब्दार्थ

इमम्—इसको; तु—लेकिन; पाशैः—रस्सियों से; वरुणस्य—वरुण देव की; बद्ध्वा—बाँध कर; निधेहि—रखो; भीतः—डरा हुआ; न—नहीं; पलायते—भागे; यथा—जिससे; बुद्धिः—बुद्धि; च—भी; पुंसः—मनुष्य की; वयसा—उम्र बढ़ने से; आर्य—अनुभवी व्यक्तियों की; सेवया—सेवा से; यावत्—जब तक; गुरुः—हमारा गुरु; भार्गवः—शुक्राचार्य; आगमिष्यति—आ जाएगा।

हमारे गुरु शुक्राचार्य के लौट आने तक इस बालक को वरुण की रस्सियों से बाँध दो जिससे वह डर कर भाग न सके। हर हालत में, जब वह कुछ-कुछ बड़ा हो जाएगा और हमारे उपदेशों को आत्मसात् कर चुकेगा या हमारे गुरु की सेवा कर लेगा तो इसकी बुद्धि बदल जाएगी। इस प्रकार चिन्ता की कोई बात नहीं है।

तथेति गुरुपुत्रोक्तमनुज्ञायेदमब्रवीत् ।  
धर्मो ह्यस्योपदेष्टव्यो राज्ञां यो गृहमेधिनाम् ॥ ५१ ॥

#### शब्दार्थ

तथा—इस प्रकार से; इति—इस तरह; गुरु-पुत्र-उक्तम्—शुक्राचार्य के पुत्रों, षण्ड तथा अमर्क द्वारा सलाह दिये जाने पर; अनुज्ञाय—मानकर; इदम्—यह; अब्रवीत्—कहा; धर्मः—कर्तव्य; हि—निस्सन्देह; अस्य—प्रह्लाद को; उपदेष्टव्यः—उपदेश देना चाहिए; राज्ञाम्—राजाओं के; यः—जो; गृह-मेधिनाम्—गृहस्थ जीवन में जिनकी रुचि है।

अपने गुरु पुत्र षण्ड तथा अमर्क के इन उपदेशों को सुनकर हिरण्यकशिपु राजी हो गया और उनसे प्रह्लाद को इस वृत्तिपरक धर्म का उपदेश देने की प्रार्थना की जिसका पालन राजसी



गृहस्थ परिवार करते हैं।

तात्पर्य : हिरण्यकशिपु चाहता था कि प्रह्लाद महाराज देश या विश्व का शासन चलाने के लिए कूटनीतिक राजा के रूप में प्रशिक्षित हो न कि संन्यास आश्रम के लिए उपदेश प्राप्त करे। धर्म शब्द किसी धार्मिक विश्वास के लिए नहीं प्रयुक्त हुआ। जैसाकि स्पष्ट कहा गया है—*धर्मो ह्यस्योपदेष्टव्यो राज्ञां यो गृहमेधिनाम्*। राजाओं के परिवार दो प्रकार के होते हैं—पहले वे जिसके सदस्य गृहस्थ जीवन से आसक्त रहते हैं और दूसरे *राजर्षि* अर्थात् वे राजा जो शासक के रूप में शासन करते हैं, किन्तु साथ ही ऋषि भी होते हैं। प्रह्लाद *राजर्षि* बनना चाहते थे, किन्तु हिरण्यकशिपु उसे इन्द्रिय-भोग-आसक्त राजा बनाना चाहता था (*गृहमेधिनाम्*)। इसीलिए आर्य प्रणाली में *वर्णाश्रम धर्म* होता है, जिसके द्वारा प्रत्येक व्यक्ति समाज में अपने *वर्ण* (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र) तथा *आश्रम* (ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ तथा संन्यास) के अनुसार शिक्षा प्राप्त करता है।

भक्ति से पवित्र हुआ भक्त संसारी गुणों से ऊपर दिव्य स्थिति में रहता है। इस प्रकार प्रह्लाद महाराज तथा हिरण्यकशिपु में यह अन्तर था कि हिरण्यकशिपु चाहता था कि प्रह्लाद संसार में लिप्त रहे, किन्तु प्रह्लाद तो प्रकृति के गुणों से ऊपर थे। जब तक कोई प्रकृति के वश में रहता है तब तक उसका वृत्तिपरक कर्तव्य (धर्म) उस व्यक्ति से भिन्न होता है, जो प्रकृति के वश में नहीं होता। मनुष्य के असली धर्म का वर्णन *श्रीमद्भागवत* में हुआ है (*धर्म तु साक्षाद् भगवत्प्रणीतम्*)। जैसाकि धर्मराज या यमराज ने अपने आदेशपालक से कहा था, जीव आध्यात्मिक सत्ता है अतएव उसका वृत्तिपरक कर्तव्य धर्म भी आध्यात्मिक है। वास्तविक धर्म तो वह है, जिसका उपदेश *भगवद्गीता* में हुआ है—*सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं ब्रज*। मनुष्य को चाहिए कि वह भौतिक धर्म का परित्याग उसी तरह कर दे जिस प्रकार उसे भौतिक शरीर का परित्याग करना होता है। चाहे किसी का धर्म हो, यहाँ तक कि वर्णाश्रम धर्म के अनुसार भी हो, उसे उसका परित्याग करके अपने आध्यात्मिक कार्य में लग जाना चाहिए। मनुष्य के असली धर्म का वर्णन श्री चैतन्य महाप्रभु ने किया है—*जीवेर 'स्वरूप' हय—कृष्णेर 'नित्य दास'*—प्रत्येक व्यक्ति कृष्ण का नित्य दास है। यही मनुष्य का असली धर्म है।

धर्ममर्थं च कामं च नितरां चानुपूर्वशः ।

प्रह्लादायोचतू राजन्प्रश्रितावनताय च ॥ ५२ ॥

**शब्दार्थ**

धर्मम्—संसारी वृत्तिपरक कर्तव्य; अर्थम्—आर्थिक विकास; च—तथा; कामम्—इन्द्रिय तृप्ति; च—तथा; नितराम्—सदैव; च—तथा; अनुपूर्वशः—क्रमानुसार, प्रारम्भ से लेकर अन्त तक; प्रह्लादाय—प्रह्लाद महाराज के लिए; ऊचतुः—उन्होंने कहा; राजन्—हे राजा; प्रश्रित—नम्र; अवनताय—तथा विनीत; च—भी।

तत्पश्चात् षण्ड तथा अमर्क ने अत्यन्त नम्र एवं विनीत प्रह्लाद महाराज को क्रमशः तथा निरन्तर धर्म, अर्थ तथा काम के विषय में पढ़ाना शुरू किया।

तात्पर्य : मानव समाज में चार विधियाँ (पुरुषार्थ) हैं—धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष। इनका अन्त मोक्ष में होता है। मानव समाज को आगे बढ़ने के लिए धर्म विधि का पालन करना होता है और इसी धर्म के आधार पर मनुष्य को अपनी आर्थिक स्थिति सुधारने का प्रयास करना चाहिए जिससे वह धार्मिक विधि-विधानों के अनुसार इन्द्रिय-तृप्ति की आवश्यकता-पूर्ति कर सके। तब भव-बन्धन से मोक्ष प्राप्त करना आसान होगा। यही वैदिक विधि है। जब कोई धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष की अवस्थाएँ पार कर लेता है, तो वह भक्त बन जाता है। तब वह ऐसे पद पर होता है जहाँ से वह गिर कर पुनः जगत में नहीं आता ( *यद्गत्वा न निवर्तन्ते* )। जैसाकि *भगवद्गीता* में उपदेश दिया गया है, यदि कोई इन चारों अवस्थाओं को पार कर जाता है और वास्तव में मुक्त है, तो वह भक्ति में संलग्न होता है। तब उसे इस संसार में पुनः पड़ने की सम्भावना नहीं रहती।

यथा त्रिवर्गं गुरुभिरात्मने उपशिक्षितम् ।

न साधु मेने तच्छिक्षां द्वन्द्वारामोपवर्णिताम् ॥ ५३ ॥

**शब्दार्थ**

यथा—इस प्रकार; त्रि-वर्गम्—तीन विधियाँ ( धर्म, अर्थ तथा काम ); गुरुभिः—अध्यापकों द्वारा; आत्मने—अपने ( प्रह्लाद ) को; उपशिक्षितम्—उपदेश दिया; न—नहीं; साधु—वास्तव में अच्छा; मेने—उसने माना; तत्-शिक्षाम्—उस शिक्षा को; द्वन्द्व-आराम—द्वैत ( शत्रुता तथा मित्रता ) में आनन्द लेने वाले व्यक्तियों द्वारा; उपवर्णिताम्—संस्तुत।

षण्ड तथा अमर्क नामक शिक्षकों ने प्रह्लाद महाराज को धर्म, अर्थ तथा काम इन तीन प्रकार के भौतिक विकास के बारे में शिक्षा दी। किन्तु प्रह्लाद महाराज इन उपदेशों से ऊपर थे, अतएव उन्होंने इन्हें पसन्द नहीं किया, क्योंकि ऐसे उपदेश संसारी मामलों के द्वैत पर आधारित होते हैं, जो मनुष्य को भौतिकतावादी जीवन-शैली में फंसा लेते हैं जिसमें जन्म, मृत्यु, जरा तथा व्याधि प्रमुख हैं।

तात्पर्य : पूरा संसार भौतिकतावादी जीवन-शैली में रुचि रखता है। निस्सन्देह, तीनों संसार के

१९.९ प्रतिशत लोग मोक्ष या आध्यात्मिक शिक्षा में कोई रुचि नहीं लेते। केवल भगवान् के भक्त, जिनमें प्रह्लाद महाराज तथा नारद मुनि जैसे महापुरुष प्रमुख हैं, आध्यात्मिक जीवन की असली शिक्षा में रुचि लेते हैं। कोई व्यक्ति भौतिक पद पर रहते हुए धर्म के नियमों को नहीं समझ सकता। अतएव उन्हें चाहिए कि वे इन महापुरुषों का अनुगमन करें। जैसाकि *श्रीमद्भागवत* (६.३.२०) में कहा गया है—

*स्वयम्भूर्नारदः शम्भुः कुमारः कपिलो मनुः ।*

*प्रह्लादो जनको भीष्मो बलिवैयासकिर्वयम् ॥*

मनुष्य को चाहिए कि वह ब्रह्मा, नारद, शिव, कपिल, मनु, चारों कुमार, प्रह्लाद महाराज, भीष्म, जनक, बलि महाराज, शुकदेव गोस्वामी तथा यमराज जैसे महापुरुषों के पदचिह्नों का अनुसरण करे। जो लोग आध्यात्मिक जीवन में रुचि रखते हैं उन्हें चाहिए कि धर्म, अर्थ तथा काम का परित्याग करके प्रह्लाद महाराज का अनुगमन करें। मनुष्य को आध्यात्मिक शिक्षा लेनी चाहिए। इसीलिए कृष्णभावनामृत आन्दोलन प्रह्लाद महाराज के चरण-चिह्नों पर चलकर सारे विश्व में फैल रहा है, क्योंकि जिन्हें अपने शिक्षकों से प्राप्त भौतिकतावादी शिक्षा बिल्कुल पसन्द न थी।

यदाचार्यः परावृत्तो गृहमेधीयकर्मसु ।

वयस्यैर्बालकैस्तत्र सोपहृतः कृतक्षणैः ॥ ५४ ॥

#### शब्दार्थ

यदा—जब; आचार्यः—शिक्षकगण; परावृत्तः—काम में लग गये; गृह-मेधीय—गृहस्थ जीवन के; कर्मसु—कार्यों में; वयस्यैः—समान आयु वाले अपने मित्रों; बालकैः—बालकों के द्वारा; तत्र—वहाँ; सः—वह ( प्रह्लाद महाराज ); अपहृतः—बुलाया गया; कृत-क्षणैः—उचित अवसर पाकर।

जब शिक्षक अपने घरेलू काम करने अपने घर चले जाते थे, तो प्रह्लाद महाराज के समवयस्क छात्र उन्हें इस अवकाश ( छुट्टी ) को खेलने में लगाने के लिए बुला लेते।

तात्पर्य : अवकाश के समय जब शिक्षक कक्षा से चले जाते तो छात्रगण प्रह्लाद के साथ खेलने की इच्छा से उन्हें बुलाते। किन्तु जैसाकि अगले श्लोकों से प्रकट हो जाएगा, प्रह्लाद महाराज को खेलना नहीं भाता था। उल्टे, वे प्रत्येक क्षण का उपयोग कृष्णभावनामृत को अग्रसर करने में बिताना चाहते थे। इसलिए जैसाकि इस श्लोक के *कृतक्षणैः* शब्द से सूचित होता है, उपयुक्त अवसर पर जब कृष्णभावनामृत के विषय में विचार करना सम्भव होता तो प्रह्लाद महाराज समय का उपयोग

निम्नलिखित प्रकार से करते थे।

अथ ताञ्शलक्षणाया वाचा प्रत्याहूय महाबुधः ।

उवाच विद्वांस्तन्निष्ठां कृपया प्रहसन्निव ॥ ५५ ॥

### शब्दार्थ

अथ—तब; तान्—सहपाठियों को; श्लक्षणाया—अत्यन्त सुहावनी; वाचा—वाणी से; प्रत्याहूय—सम्बोधित करके; महा-बुधः—अत्यन्त बुद्धिमान तथा आध्यात्मिक चेतना में अग्रसर प्रह्लाद महाराज ने ( महा-महान्, बुधः-पंडित ); उवाच—कहा; विद्वान्—अत्यन्त विद्वान्; तत्-निष्ठाम्—ईश्वर साक्षात्कार का मार्ग; कृपया—दयालु होकर; प्रहसन्—हँसते हुए; इव—सदृश।

तब प्रह्लाद महाराज ने, जो सचमुच परम विद्वान् पुरुष थे, अपने सहपाठियों से अत्यन्त मधुर वाणी में कहा। उन्होंने हँसते हुए भौतिकतावादी जीवन-शैली की अनुपयोगिता के विषय में बताना शुरू किया। उन पर अत्यन्त कृपालु होने के कारण उन्होंने उन्हें इस प्रकार उपदेश दिया।

तात्पर्य : प्रह्लाद महाराज का हँसना अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। अन्य विद्यार्थी धर्म, अर्थ तथा काम के उपयोग द्वारा भौतिक जीवनका भोग करने में अत्यधिक आगे बढ़े हुए थे किन्तु प्रह्लाद महाराज उन पर हँस पड़े क्योंकि वे जानते थे कि यह वास्तविक सुख नहीं है। वास्तविक सुख तो कृष्णभावनामृत की प्रगति है। जो लोग प्रह्लाद महाराज के अनुयायी हैं उनका कर्तव्य है कि सारे विश्व को शिक्षा दें कि किस प्रकार कृष्णभावनाभावित होकर वास्तव में सुखी बना जाये। भौतिकतावादी व्यक्ति धर्म को इसलिए ग्रहण करते हैं कि उन्हें वर प्राप्त हो सके जिससे उनकी आर्थिक स्थिति सुधर सके और वे इन्द्रियतृप्ति द्वारा भौतिक जगत का भोग कर सकें। किन्तु प्रह्लाद महाराज जैसे भक्त इस बात पर हँसते हैं कि ऐसे लोग कितने मूर्ख हैं कि आत्मा के देहान्तरण के ज्ञान के बिना ये नाशवान् जीवन में व्यस्त हैं। भौतिकतावादी व्यक्ति क्षणिक लाभों में लगे रहते हैं जबकि प्रह्लाद महाराज जैसे व्यक्ति, जो आध्यात्मिक ज्ञान में बढ़े-चढ़े हैं, भौतिकतावादी जीवन-शैली में तनिक भी रुचि नहीं रखते, अपितु वे ज्ञान तथा आनन्द के शाश्वत जीवन को प्राप्त करना चाहते हैं। अतएव जिस तरह कृष्ण सदैव पतितात्माओं पर, दयालु रहते हैं उसी तरह उनके दास कृष्ण के भक्त भी सम्पूर्ण जनता को कृष्णभावनामृत की शिक्षा देने में रुचि रखते हैं। भक्तगण भौतिकतावादी जीवन के दोषों को जानते हैं, अतएव वे उसे तुच्छ समझ कर उस पर हँसते हैं। किन्तु दयावश ऐसे भक्तगण सारे विश्व में *भगवद्गीता* का उपदेश देते हैं।

ते तु तद्गौरवात्सर्वे त्यक्तक्रीडापरिच्छदाः ।

बाला अदूषितधियो द्वन्द्वारामेरितेहितैः ॥ ५६ ॥

पर्युपासत राजेन्द्र तत्र्यस्तहृदयेक्षणाः ।

तानाह करुणो मैत्रो महाभागवतोऽसुरः ॥ ५७ ॥

### शब्दार्थ

ते—वे; तु—निस्सन्देह; तत्—गौरवात्—प्रह्लाद महाराज के शब्दों के प्रति महान् आदर से ( उनके भक्त होने के कारण ); सर्वे—वे सभी; त्यक्त—त्याग; क्रीडा-परिच्छदाः—खेलने के खिलौने; बालाः—लड़के; अदूषित-धियः—जिनकी बुद्धि अपने पिताओं के समान दूषित नहीं हुई; द्वन्द्व—द्वैत्य भाव में; आराम—आनन्द लेने वाले ( यथा षण्ड तथा अमर्क जैसे शिक्षक ); ईरित—उपदेशों द्वारा; ईहितैः—तथा कार्यों से; पर्युपासत—चारों ओर बैठ गये; राज-इन्द्र—हे राजा युधिष्ठिर; तत्—उसको; त्र्यस्त—त्याग करके; हृदय-ईक्षणाः—अपने हृदय तथा नेत्र; तान्—उनको; आह—बोला; करुणः—अत्यन्त दयालु; मैत्रः—असली मित्र; महा-भागवतः—अत्यन्त पूज्य भक्त; असुरः—यद्यपि असुर पिता से उत्पन्न प्रह्लाद महाराज ।

हे राजा युधिष्ठिर, सारे बालक प्रह्लाद महाराज को अत्यधिक चाहते थे और उनका सम्मान करते थे। अपनी अल्पायु के कारण वे अपने शिक्षकों के उपदेशों एवं कार्यों से जितने दूषित नहीं हुए थे जबकि उनके शिक्षक निन्दा, द्वैत तथा शारीरिक सुविधा के प्रति आसक्त थे। इस तरह सारे बालक अपने-अपने खिलौने छोड़कर प्रह्लाद महाराज की बात सुनने के लिए उनके चारों ओर बैठ गये। उनके हृदय तथा नेत्र उन पर टिके थे और वे उन्हें उत्साहपूर्वक देख रहे थे। प्रह्लाद महाराज यद्यपि असुर कुल में पैदा हुए थे, किन्तु महान् भक्त थे और वे असुरों की कल्याण-कामना करते थे। इस प्रकार उन्होंने उन बालकों को भौतिकतावादी जीवन की व्यर्थता के विषय में उपदेश देना प्ररम्भ किया।

तात्पर्य : बाला अदूषित-धियः पद बताता है कि बच्चे अल्पायु होने के कारण भौतिकतावादी जीवन से उतने दूषित नहीं थे जितने कि उनके पिता। अतएव प्रह्लाद महाराज ने अपने सहपाठियों की अबोधता का लाभ उठा कर उन्हें आध्यात्मिक जीवन की महत्ता तथा भौतिकतावादी जीवन की असारता का उपदेश देना शुरू किया। यद्यपि षण्ड तथा अमर्क सारे बालकों को धर्म, अर्थ तथा काम सम्बन्धी भौतिकतावादी जीवन का उपदेश दे रहे थे लेकिन बच्चे अधिक दूषित नहीं हुए थे। अतएव वे कृष्णभावनामृत के विषय में प्रह्लाद महाराज से सुनने के लिए उत्सुक थे। हमारे कृष्णभावनामृत आन्दोलन के कार्यकलापों में गुरुकुल का अत्यधिक महत्त्व है, क्योंकि गुरुकुल के बालकों को बचपन से ही कृष्णभावनामृत के विषय में शिक्षा दी जाती है। वे अपने अन्तस्तल में स्थिर हो जाते हैं और जब वे बड़े होते हैं, तो प्रकृति के गुण उन्हें जीत नहीं पाते।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के सप्तम स्कन्ध के अन्तर्गत "हिरण्यकशिपु का साधु पुत्र प्रह्लाद महाराज" नामक पाँचवें अध्याय के भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुये